

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180683

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—44—69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H82.01/G25pr** Accession No. **G.H. 755**

Author **जैन, विश्वचन्द्र ।**

Title **प्रसाद का नाट्य-चिंतन**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रसार का नाट्य-चिंतन

(हिंदी नाट्य-चिंतन-द्वितीय-भाग)

लेखक
विश्वरत्न शर्मा, साहित्यरत्न

प्रकाशक
नरेन्द्र साहित्य कुटीर ५७, दीतवारिया, इन्दौर.

संयुक्तप्रांत के सोल एजेंट
साहित्य रत्न-भण्डार,
(५३ ए सिविल लाइन्स) आगरा

अजातशत्रु की भूमिका में 'प्रसाद'—

इतिहास में घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति होने देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नई घटना होती ही नहीं। किंतु असाधारण नई घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखनी है। मानव-समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूलमूल बहुत ही सूक्ष्म और अपरिष्कृत होता है। जब वह इच्छा शक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती, तब तक वह रूप परिवर्तन करती हुई पुनरावृत्ति करती जाती है। समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उसका विरोध करने लगती है, और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहरकर, फिर होने के लिये अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव-समाज के इतिहास का इसी प्रकार संचालन होता है।

‘प्रसाद’ का नाट्य-चिंतन

दार्शनिक कवि, मार्मिक इतिहासज्ञ एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा के कलाकार ‘प्रसाद’ की नाट्यकला पर विवेचन करने के पहिले उस कला में प्राप्त होनेवाली मूल-प्रवृत्तियों के उद्गमों, विकासों एवं परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि उसमें काव्य-कला के सब अङ्गों की विशिष्ट प्रमाण में पुष्टि हुई है। ‘प्रसाद’ उन इने गिने कलाकारों में से हैं जिन पर भारत गौरव कर सकता है, जिन्हें महाकवि टैगोर के समकक्ष आंका जाता है और जो एक हिंदी-भाषा के उन उच्चायकों में से हैं जो भविष्य में विश्व के अमर साहित्यिकों में अपना सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण करेंगे। गन् ३० वर्षों का हिंदी-साहित्य ‘प्रसाद’ और ‘प्रेमचंद’ का है, यद्यपि अन्य साहित्य-सेवियों को भी यथोचित स्थान दिया जा सकता है। जितनी व्यापक हिंदी भाषा की ये विभूतिएँ हुई हैं उतनी अन्य नहीं।

‘साहित्य को, कलाकार को अपने युग से आगे चलना चाहिये।’ इसमें सत्यार्थ है किंतु महान् लेखकों, कलाकारों और युग-प्रवर्तकों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे ‘प्रसाद’ पर युग निर्माण अवश्य करते अथवा कर सकते हैं, युग के युग-प्रभाव आगे चलनेवाले एवं पथ-प्रदर्शक भी होते हैं किंतु उस युग की परिस्थितियों, विचार-धाराओं का उन पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ता है। उनसे वे ग्रहण करते, उन्हें प्रकट करते और व्यापक बनाते हैं। यही उनकी महानता और महत्व प्रदर्शित होता है। विचार

धाराएँ युग के वातावरण में कण-कण होकर समाई रहती हैं। परिस्थितिएँ इन कणों को पैदा करती हैं। विचारों के ये कण व्यक्ति-व्यक्ति के उद्गारों, अनुभवों, अभावों के प्रकटीकरणों, अनुभूतियों को गठित करते रहते हैं जिनका आधार समाज, यही मानव और इनका अन्तर और बाह्य-वातावरण रहना है। ये विचार-कण समाज के पश्चात्तापों, संकेशों, वेदनाओं, अभावों, बन्धनों आदि की गर्मी से तापित होकर विशाल-मानव सागर से धाराधरों के रूप में परिवर्तित होने जाते हैं और फिर कलाकारों की उच्च प्रतिभा-श्रृंगों से संघर्षित हो विचारधाराओं के रूप में बरस पड़ते हैं। तब हम उन्हें एक नवीन रूप में देख कर तृप्त होते हैं। इस प्रकार प्रतिभा असीमित, परोक्ष, निराकार, अनन्त से एक स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा एक सीमित, प्रत्यक्ष, साकार, सांत को जन्म देती है। एक नव रचना, कृतिका जन्म होता है। वह मानव कल्याण भी करती है। करती रहती है। धाराधर केवल एक बार तृप्ति देने हैं किंतु विचार धाराएँ बार-बार और एक लम्बे युग तक तृप्त करती रहती हैं।

‘प्रसाद’ की स्वतंत्र प्रतिभा ने भी १९२० की महाक्रांति, महा-विप्लव से बहुत कुछ ग्रहण किया है। यहाँ मुझे समझने में आप गलती न करें और यह न समझें कि इस कारण मैं ‘प्रसाद’ को दोषी समझता हूँ। युग का प्रभाव तो अवश्य पड़ता ही है। हजारों वर्षों के बाद जो महान् आत्मा, जो अवतार, जो मोहन पैदा हुआ है उसका प्रभाव व्यापक न पड़े, यह हो नहीं सकता। इसीलिये ‘प्रसाद’ की उच्चभोटि की प्रतिभा ने जो ग्रहण किया, जिस क्षणिक, तत्कालीन बार बार मरनेवाले को ग्रहण किया उसे अपनी रचनाओं में स्थायी, सर्वकालीन और अमर बना दिया है। ‘प्रसाद’ और ‘प्रेमचन्द’ ने इसी महान्-युग का उच्चतम प्रतिनिधित्व किया है जो न केवल आज के इतिहास में किंतु विश्व के इतिहास में अमर रहेगा। विश्व के एक चौथाई भाग की आकांक्षाओं,

भावनाओं को अंकित कर भी क्या कोई यह कह सकता है कि यह युग, यह विभूति और ये कलाकार विश्वबंध न हो सकेंगे।

‘प्रेमचंद’ ने इस युग-साहित्य के शरीर को गठित किया, सुदृढ़ बनाया, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। ‘प्रसाद’ ने आत्मा की ओर ध्यान दिया। ‘प्रेमचंद’ ने ताजे और समूचे फलों का प्रयोग किया और ‘प्रसाद’ ने केवल रसका और हम देखें ‘प्रसाद’ में कैसे उज्ज्वलतम रूप में हमें इस महान-युग की प्रतिक्रिया, सुन्दरतम निदर्शन मिलता है।

इस महान् युग के प्रथम सन् ५७ के बाद, राष्ट्रीय आंदोलन तो हुये। जाग्रति भी हुई। (उसके पूर्व के राष्ट्रीय प्रबल-प्रयत्नों को इतिहास भुला नहीं सकता। किंतु विस्तृत भारत के कोने-कोने में जो संदेश, जो आत्मिक बल-सौरभ फैला वह अलौकिक, अप्रतिम हुआ है। इसके पहिले वह युग था जिसमें अङ्गरेजों के न्याय में, महारानी विक्टोरिया की घोषणा में, उनके संरक्षण में, उनके साहित्य और शिक्षण में श्रद्धा और विश्वास था। उदासीनता कम थी। अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के प्रति प्रेम अधिकाधिक बढ़ रहा था। इस आंदोलन ने सहसा इन भारत-विरोधी-प्रगतियों को क्षण भरके लिये रोक दिया। क्षण भर भारत को सोचने के लिये ठहरा दिया। आंतरिक जो अनुभव वह कर रहा था और जिसे आत्म-प्रकटीकरण नहीं मिल रहा था अब वही वहिर्गत होकर प्रकट और स्पष्ट हुआ। अन्तर को बोलने का मार्ग मिला। सबसे पहिले भारत को यह भान हुआ कि उसकी आत्मा में भी बल है। अंग्रेजों की शक्ति का प्रभुत्व, आतंक जो सन् सत्तावन में फैला था और जो अब तक बढ़ता ही आया था वह कपूर के समान उड़ गया। असहयोग-आंदोलन की गर्मी को सह न सका। साहित्य पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ा है। सबसे पहिली बार पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा से हमें विवृत्ति हुई। इसके पहिले के साहित्य में कोई बात ऐसी नहीं पाई

जाती जो इनका प्रबल विरोध करनेवाली रही हो। यह बात नहीं थी कि इसका अनुभव नहीं हुआ हो। वह तो भारतेंदुबाबू से प्रारम्भ हो गया था और उसका तत्कालीन प्रभाव भी उनमें लक्षित होता है किंतु उसके बाद तो हमने अपने को हेय और यूरोप को श्रेष्ठ समझना प्रारम्भ व्यापक और सामुहिक रूप से कर दिया था और इसी भावना पर आघात इस आन्दोलन ने किया। हमें अपना और अपनी आत्मा का ज्ञान हुआ। मेरा तो यह ख्याल है चूँकि एक कलाकार, लेखक या साहित्यिक 'अपने युग की भी जिन्दगी बिताता है', कोई लेखक इस युग की भावना से अछूता नहीं रहा। १८२० से १८३२-३३ तक इसका प्रचुर प्रभाव रहा और इसके बाद इस प्रभाव पर कुछ अन्य प्रभावों ने और विचार धाराओं ने प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया किंतु ये उसके पुत्र या पुत्री ही हैं। उसी युग माता से निम्सृत हुये हैं। अतएव 'प्रसाद' से प्रभावशाली, स्वतंत्र प्रतिभा के उपासक, बाह्य आन्दोलनों और वातावरण से विलग रहनेवाले 'प्रसाद' में भी इसका प्रभाव लक्षित हो, काफी प्रमाण में तो हमें आश्चर्य करने की या 'प्रसाद' को प्रतिभा में कमी समझने की आवश्यकता नहीं। (वास्तव में इतिहास-अध्ययन, स्वतंत्र प्रतिभा, कवित्व के साथ युग-प्रभाव जो कि अनिवार्य है 'प्रसाद' में हमें मिलता है) 'सजन', 'प्रायश्चित', 'विशाख', 'राज्य-श्री', और 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में इस युग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता और ये इस युग के पूर्व की रचनाएँ मालूम होती हैं। 'कामना' में उनका कवित्व इसी युग के प्रभाव को लक्षित करता है एवं अवलम्ब लिये हुये है। साथ ही 'कामना' 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' का विकसित रूप भी है जो 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की रचना प्रणालीवाली रचनाओं में प्राप्त होता है। 'अज्ञातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' इस युग से स्पष्ट प्रभावित हुए हैं किंतु प्राचीन, भारत के गौरवमय इतिहास के अध्ययन के फल-

स्वरूप 'प्रसाद' इनमें कहीं इस युग से अधिक आगे; बहुत आगे निकल गये हैं। आज देश अथवा काँग्रेस की भी वही हालत है जो 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में वर्णित संघर्षों के समय हुई है। हम इनमें कई आधुनिक चरित्रों की उद्भावना भी कर सकते हैं। 'स्कन्दगुप्त' इस युग का स्पष्ट प्रभाव अंकित करता है। 'चन्द्रगुप्त' परोक्ष, कुछ स्थायी और कुछ अस्थायी। लेखक में जो भाव रहता है वह किन्हीं राजनैतिक कारणों से अवरुद्ध रहने के कारण साहित्य के रूप में अवश्य ही उद्गत होता है। 'कामना' में यही हुआ है।

इस युग से भाव एवं भावना ग्रहण कर उनमें निज कवित्व और कल्पना का रंग भर 'प्रसाद' ने 'कामना' की सृष्टि की है। यह भाव रूपक उनकी बाल कृतियों का विकसित एवं 'कामायनी' का 'कामना' बीज रूप है जिसमें 'कामायनी' का गम्भीर चिंतन, विशाल कल्पना, प्रागैतिहासिक काल का सूक्ष्म चित्रांकण, मानव सृष्टि और राजसत्ता के विकास-क्रम का मूल रूप विद्यमान है। साथ ही 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की प्रणाली एवं 'भारत दुर्दशा' के विकास पर यह उनकी सुन्दर कल्पना है जिसमें अमूर्त, आंतरिक एवं मनोराज्य के भावों को प्रश्रय देकर उन्हें मूर्त, बाह्य और लौकिक रूप दिया गया है। सूक्ष्म को स्थूल किया गया है।

'कामना' केवल इस युग की ही प्रतिक्रिया नहीं है किंतु उसमें मानव के मूल एवं विकास का इतिहास, भोले-भाजे भारत की विडंबना, स्वत्वापहरण का प्रदर्शन भी है। इस नन्हें कृति में भारत, इंग्लैंड और सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का कवित्व और कल्पना पूर्ण परोक्ष चित्रण है। कथावस्तु यद्यपि स्पष्ट है किंतु एकही प्रकार का चित्रांकण विभिन्न भावों को प्रदर्शित करता है तथा ब्रिटेन और भारत जैसे विभिन्न शोषक और शोषित देशों पर घटित होता है। किंतु इसका केवल

साहित्यिक रूप ही हमें ग्रहण करना चाहिए क्योंकि कोई भी उच्च कलाकार युग से एक सूक्ष्म भावना ही ग्रहण करता है और अपनी कल्पना से उसे एक विस्तृत चित्र का रूप दे देता है। 'कामना' में भी यही हुआ है। इस युग से एक सरस भावना की उन्होंने कल्पना और कविता द्वारा सुन्दर और सरस चित्रपट तैयार की है जिसमें मानव-मूल विकास-क्रम भी अप्रत्यक्ष, सरस और बड़े ही उचित ढंग से आ गया है।

सृष्टि के प्रारम्भ में मानव बड़ा भोला-भाला, निरीह-मासूम, अवलुप्त प्रकृति-अनुगामी, हृदय-स्वच्छ, समभोगी और साम्यवादी था। मानव मानव था। अपने अमली रूप में था। तब न समाज था, न राज-सत्ता थी। न कोई बड़ा था न छोटा। सब समरस, सब सृष्टि के मूल रूप में थे। तब "ऊषा के अपांग में" जैसे "जागरण की लाली" थी। "पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा" था। पृथ्वी के इस उषा-काल में वह "शान्ति का निरंतर सङ्गीत सुनाया करता" था। "कैसी प्रकृति से मिली हुई यह जाति थी।" महत्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं था। किंतु नाटक की पात्रा 'कामना' चूँकि कामना ही थी। कामना थी इसलिये "हाहाकार" अर्थात् असन्तोष शुरू हुआ। कामना की वृद्धि हुई। उसे अपने में अपूर्णता का भान हुआ, आकांक्षा ने उसे सहचरी बनाया और इसी समय उसे 'विलास' के दर्शन हुए। 'कामना' सहर्ष विलास का स्वागत करती है। 'विलास' नारी 'कामना' को स्वर्ण-पट देकर पूर्ण वशीभूत कर लेता है।

'विलास' का आधिपत्य हो जाने के पश्चात् स्वतंत्र और निर्भीक 'कामना' डर से परिचित हो जाती है। "सूख ! अपने देश की दरिद्रता से विताड़ित और अपने कुकर्मों से निर्वासित साहसी "विलास" राजा बना चाहता है।" (क्या विलास में हम क्राइव की उद्भावना नहीं कर

सकते ? उपयुक्त विशेषता क्या हम उसके लिये प्रयुक्त नहीं कर सकते ?) आगे वही 'विलास' सोचता है (और 'विलास' का निम्न कथन क्या हम भारत पर घटित नहीं कर सकते ?) "जैसे शैल-निवासिनी सरिता, पथ के विषम ढोको को, विघ्न-बाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति से ढकती हुई बहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई अस्तित्व का उपयोग हँसती हुई कर लेती है ।" "ऐसी सीधी जाति पर भी यदि शासन न किया तो मनुष्य ही क्या ? इनमें प्रभाव फैला कर अपने नये और व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभनवाले विचारों का प्रचार करना होगा ।" (क्या विदेशी शासक-शक्ति यह नहीं करती ?) ऐसे ही समय उसकी मङ्गलाकाररूपी छाया का उसे सहयोग प्राप्त हुआ । उसे चेतावनी मिली "स्मरण रख तुझे इस जाति को अपराधी बनाना होगा । जो जाति अपराध और पापों से पतित नहीं होती वह विदेशी तो क्या, किसी अपने सजातीय शासक की आज्ञाओं का बोझ भी अपने स्कंध पर वहन नहीं करता । और समझने कि बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली जाति को पतित नहीं बना सकता ।"

बस 'विलास' ने धीरे-धीरे कामना पर ही अपना आधिपत्य नहीं जमाया किन्तु सारे द्वीप भर में स्वर्ण और मदिरा की आकांक्षा उत्पन्न कर दी । जो जाति अब तक वन-लक्ष्मी से सन्तुष्ट थी उसमें विलास का दौर-दौरा हो गया । 'लीला' के हृदय में भी उसी स्वर्ण-पट की कामना जाग्रत हो गई जोकि 'कामना' को पहिले से ही प्राप्त हो गया था । इसी स्वर्ण-पट के कारण 'विनोद', 'कामना' और 'विलास' का दास बनना स्वीकार कर लेता है । इधर सुस्वाद पेया मदिरा का बाजार गर्म हो जाता है । इस प्रकार मनुष्य अपने प्राकृतिक जीवन से बनावटी जीवन की ओर अग्रसर होता है । न केवल पुरुष किन्तु स्त्रियों भी मदिरा पीकर

अपने को उन्मत्त बना देती हैं। जब स्वर्ण और मदिरा का प्राचुर्य हो जाता है तब 'विलास' 'विनोद' को प्रोत्साहन देने के लिये मृगया की ओर आकर्षित करता है। वह कहता है कि इन दुष्ट प्राणियों को यदि हम, हम पर आक्रमण करने के पहिले ही आक्रमण कर धराशायी बना दें तो हमारा मनोरंजन भी होगा, व्यायाम भी होगा। हम वीर भी होंगे और हमारी रक्षा भी होगी। बस, अब भोली जाति मृगयारत हो निरीह प्राणियों के वध की ओर अग्रसर हो जाती है।

अब यही पवित्र और 'भोली जाति' जो अब तक 'जीवन को खेल' समझती थी और केवल 'पक्षियों के संदेश में ही आनन्द-लाभ करती थी' पापों, अन्यायों और नियमों आदि की सृष्टि के द्वारा पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, नियमों को 'विलास' से सीखती है।

स्वर्ण की आकांक्षा और पेया की प्यास अब सारे द्वीप में व्याप्त हो जाती है। केवल उपासना की रानी 'कामना' अब हमारे, संसार के अर्थों में 'विलास' के द्वारा रानी बनाई जाती है। मदिरा ने अब इस जाति को इतना पतित बना दिया है कि जहाँ सब मिल कर नाचा करते थे अब वहाँ वे सब व्यभिचारी होने लगे हैं। पाश्चात्य सभ्यता पर, उनकी संस्कृति पर 'प्रसाद' का लक्ष्य अब पहुँच जाता है। जब एशियाई तथा अन्य देशों से स्वर्ण राशि यूरोप को पहुँचने लगी तब उन देशों में कैसा उन्माद छा गया। उन्हें स्व-स्त्री से सन्तोष न होने लगा। प्रत्येक अपने से इतर की पत्नी को श्रेष्ठ ममक उसके साथ नाचने लगा। (पाश्चात्य नाचों में क्या यह नहीं होता ?)

'कामना' रानी तो हो जाती है ठीक उसी रूप में जिसमें राज-सत्ता की स्थिति और अस्तित्व को हम आज तक पाते रहे हैं किंतु उसके हृदय की स्वाभाविक आकांक्षा पूरी नहीं होती। 'विलास' शायद उससे विलास कर उसके बंधन में फँसना नहीं चाहता क्योंकि वह तो विलास

ही ठहरा। 'कामना' के हृदय की प्यास, नारी की स्वाभाविक प्यास थी; किसी पुरुष को आत्म-समर्पण कर उसकी हो रहना। किंतु उसकी यह प्यास पूरी नहीं हो पाती। वह उपासना-गृह की केवल दासी ही रह जाती है। 'विलास' का सम्पर्क करते हुए भी कुमारी और पवित्र। 'विलास' 'कामना' को धोखा देता है और उसका अतृप्त हृदय चारों ओर भटकता रहता है।

इस सब का परिणाम क्या निकलता है? शांति भंग होती है। शांति देव जिसके पास प्रचुर स्वर्ण था और जो आज इसी कारण यह सोच नहीं पाता था कि उस स्वर्णराशि को कहाँ रखे दो मध्य द्वीप-वासियों के द्वारा इसी स्वर्ण के लिये मारा जाता है। अब अपराध शुरू हो गये हैं। कारागारों की सृष्टि होने लगी है। शिकारी सैनिक और पहरेदार हो जाते हैं। परिणाम यह निकलता है कि "देश के बच्चे चिंताग्रस्त और दुर्बल दिखाई देने हैं। स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता सहित और भी कैसे-कैसे कृत्रिम आँखों का समावेश हो गया है। व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है। छिप कर बातें करना, कानों में मंत्रणा करना, छुरों की चमक से आँखों में आस उत्पन्न करना, वीरता नाम के किसी अद्भुत पदार्थ की ओर अन्धे होकर दौड़ना, युवकों का कर्तव्य हो रहा है। वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासता के दास होकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं। कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे हैं।"

"सब बड़े मूर्ख और पुरानी लकीर पीटनेवाले कहे जाते हैं।".....
 "हृदय में व्याकुलता, मस्तिष्क में पाप-कामना भरी है।"

"सोने का ढेर छल और प्रवंचना से एकत्रित कर के थोड़े से ऐश्वर्य शाली मनुष्य द्वीप भर को दास बनाये हुए हैं।"

परिस्थिति इतनी भयानक और पतित हो जाती है कि स्वयं विलास (जॉन बुल) को एक बार अनुताप होता है। वह सोचता है, "यह बड़ा

रमणीय देश है। भोले-भाले प्राणी थे। इनमें जिन भावों का प्रचार हुआ उपयुक्त ही था। परन्तु सब कर के क्या किया? अपने शापग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की अत्याचार-ज्वाला से दग्ध होकर निकला। यहाँ शीतल छाया मिली, परन्तु मैंने किया क्या? सन्तोष उत्तर देना है “वही ज्वाला यहाँ भी फैला दी, यहाँ भी नवीन पापों की सृष्टि हुई।”

‘विलास’ भुलावा देता है। कहता है “देखो अब से तुम एक राष्ट्र में परिणत हो रहे हो। राष्ट्र के शरीर की आत्मा राजसत्ता है उसका सदैव आज्ञापालन करना, सम्मान करना।”

‘विलास’ ‘कामना’ से ऊब गया। अब लालसा जाग्रत हुई। अब उसका ‘लालसा’ से सम्पर्क हुआ।

निम्न-लिखित अंश में उस दशा का चित्रण है जिसमें यूरोप के साहसी (जिनमें कतिपय सामुद्रिक डाकू भी थे) नाविकों ने आफ्रिका और अमेरिका आदि देशों की यात्राएँ कर अनेक कठिनाईएँ सहन की थीं।

“आज तक इधर के लोग न जानें कब से यही जानते थे कि उस पार न जाना, उधर अज्ञात प्रदेश है। परन्तु शांतिदेव ने साहस कर के उधर की यात्रा की थी, वह बहुतसे पशुओं, असभ्य मनुष्यों से बचते हुए वहाँ से यह सोना ले आये।” ये उद्धरण प्रसाद की कल्पना और कला के आधार हैं।

नवीन भूमि की खोज के पश्चात् नवीन-नवीन देशों पर आक्रमणों की बात सोची जाने लगी। स्वर्णकांक्षी देशवासी परापहरण के लिये वीरता और उत्साह से भर गये। “नदी के उस पार की भूमि” पर आक्रमण और अधिकार करने के लिये इन भावों का प्रचार किया जाने लगा कि “यदि वीर हो तो चलो—वीर भोग्या तो वसुन्धरा होती ही

है। उस पर जो सबल पदाघात करता है उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।”

यही विचार-धारा है। यही भीषण लालसा है। इसी के कारण अपराधों की सृष्टि हो रही है। कठोर दण्डों का सृजन हो रहा है और “अपराध से अपराध परंपरा की सृष्टि।”

एक बार विवेक चेतावनी देता है, “लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे ? तुम पहिले हमसे भी क्या विशेष अन्नभ्य थे ? आज शासन सभा का आयोजन कर के सभ्य कहलानेवाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था।” यहाँ प्रसाद की आत्मा उबल पड़ी है।

अब “निर्जन में प्रान्तों के गन्दे भोंपड़ों में, बिना प्रमोद की रातों” और “संस्कृति-विहीन जीवन” से मन ऊब गया।

“हसलिये तो नवीन नगर-निर्माण की आयोजना चली।” नगर बसने लगे। द्वीपवासियों को “बड़ा सुन्दर भविष्य” दिखाई देने लगा।

‘शांतिदेव’ की धनी स्त्री ‘लालसा’ के चित्रण में अधःपतन की पराकाष्ठा है जो आधुनिक सभ्यता की देन है।

धीरे-धीरे ग्रामीणों के खेतों की उर्वरता की ओर दृष्टि जाती है। कर वृद्धि की सूझती है। इसी प्रसंग पर पिता-पुत्र और माता के परिवार का एक चित्र और प्रसाद ने इसलिये खींचा है कि इस नवीन सभ्यता के प्रचार ने कौटुम्बिक जीवन पर भी कितना प्रबल आघात किया है।

वास्तव में ‘कामना’ में सभ्यता के विकास के, पाश्चात्य सभ्यता के श्रीगणेश के, भारत सदृश देशों के शोषण और ब्रिटेन सदृश शोषक देशों के क्रमशः हास और वृद्धि के सम्बन्ध के विचार व्यक्त हुये हैं। ये विचार

और ये बातें १९२० के पहिले भी थीं। किन्तु इसके पहिले जैसे जवान बन्द थी। मस्तिष्क कुंठित था। कुछ अनुभव होता था किन्तु पाश्चात्य सभ्यता से हम इतने अभिभूत और चकित थे कि उनके संबन्ध में कुछ कह नहीं सकते थे किन्तु १९२० के बाद हमें अनुभव हुआ कि हम लोग जो सोचते थे, अनुभव करते थे, वह गलत नहीं था, ठीक था। दीन भाव चला गया था और उसके स्थान पर आत्म हृदय और आत्म-बल हम में आ गया था। इसी भावना का सुन्दरतम दिग्दर्शन 'कामना' में है। कामना की दो कविताएँ अश्लीलता की सीमा पर पहुँच गयी हैं। वेश्याओं के गाने योग्य या गार्ह सी हुई हैं। जैसा प्रसंग है और आधुनिक सभ्यता ने कला के नाम पर जैसे अपनी शृंगारी नग्न भावनाओं को प्रोत्साहन दिया है उसके अनुरूप वे अवश्य हैं।

बाद में 'प्रसाद' की कतिपय पंक्तियों एवं विश्वबन्धुत्व के तब तक के विकसित एवं प्रचलित विचारों के आधार पर विकास सुमित्रानंदन पंत का रूप में, पंत का 'ज्योत्स्ना' नाटक निकला जिसे 'ज्योत्स्ना' हम 'कामना' की ही श्रेणी में रख सकते हैं।

पंत की सूक्ष्म कल्पना एवं नाटकीय विचार-धारा में काव्यत्व का जो स्वरूप है उसकी पृष्ठ भूमि जो 'कामना' से उद्भूत हुई है वह है प्रसाद की निम्न लिखित पंक्तियाँ "हम लोग बड़ी दूर से आये हैं। जब विलोडित जल राशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी मय हम लोग शीतल तारकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गये। इस द्वीप में अब तक तारा ही की संतानें बसती हैं।" 'कामना'

"पिता की आज्ञा से, कभी छोटी, कभी बड़ी एक राह खुलती है, और किसी दिन बिलकुल नहीं। उसे चन्द्रमा षहते हैं। अपने शीतल

पथ से थकी हुई तारा की संतान अपने खेल समाप्त कर उसी से चली जाती है। ” ‘ज्योत्स्ना’ ।

इन सूक्ष्म शब्दाधारों पर पंतजी ने ‘ज्योत्स्ना’ के रूप में एक भावकृति, शब्द-चित्र, कल्पना, स्वप्न और आदर्श की सरस अनुभूति हमें दी है। उनके काव्य की विचार धारा का एक सरस, सुखद, बहुमुखी प्रकृति समन्वित भाव इस गीत प्रधान नाटक में बड़ी ही भाव प्रवणता के साथ खिल उठा है, जो हिन्दी भाषा की भाव-प्रकाशन शक्ति का भी द्योतक है। (‘भारत दुर्दशा’, ‘कामना’ और ‘ज्योत्स्ना’ क्रमशः भाव-रूपकों का हिन्दी नाट्य साहित्य में एक क्रमिक विकास हमारे समक्ष रखते हैं।)

भारत दुर्दशा में जहाँ केवल भारत है, उस समय की देश भक्ति पूर्ण भावना प्रकट हुई है वहाँ ‘कामना’ में सरस काव्योचित गुणों के साथ प्रकृति, विश्व और भारत के स्वापहरण के सुन्दर चित्रण हैं। ‘ज्योत्स्ना’ में काव्य कल्पना, कवि-स्वप्न और आदर्श के साथ विश्व बन्धुत्व की तब तक की सरस भावनाओं, विचार-धाराओं, अनुभूतियों के सार भाग का सुन्दर साहित्यिक रूप हमें प्राप्त होता है। पंतजी की इस कल्पना में उनका ही सब नहीं है। पूर्व एवं तत्कालीन विचार-धाराओं के अध्ययन के पश्चात् मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। इस पर पहुँचने से मेरा आशय यह नहीं है कि मैं लेखक, कवि या नाटक-कार को केवल इसी कारण नीचा समझता हूँ। यह कारण तो रहता है, रहा है और रहेगा। इसके कारण किसी कलाकार को मैं किन्हीं अंशों में भी निम्न नहीं समझता। (मेरा विचार तो केवल इतना ही है कि उन कारणों और परिस्थितियों, वातावरणों एवं प्रवृत्तियों को खोजना जिनके कारण सरस साहित्य, सुन्दर कला-कृति अथवा किसी भाव-रचना का जन्म होता है, जो लेखक, कवि, कलाकार के मस्तिष्क पर, हृदय पर इतना

प्रभाव डालती हैं कि उसकी कला-प्रदर्शन, ग्रहण करनेवाली शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं और उससे बरवश अमर कृतिएँ लिखवा लेती हैं ।)

प्रथमतः विचार समाज-दृष्टाओं, विचारकों, दैनिक समस्याओं पर ध्यान देनेवालों आदि के मस्तिष्क से, महान आत्माओं जैसे गाँधी जी सदृश व्यक्तियों से उद्गत होती रहती हैं। ये स्वतंत्र रूप से व्यक्ति विशेषों में भी पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा सृजित होती रहती हैं। स्वयं लेखक, कवि या कलाकार में भी उद्भवित होती रहती हैं। इनसे उड़कर हवा में, वातावरण में फैलती हैं। (जो जितना अधिक ग्रहण शील, संवेदनाशील कलाकार या लेखक होता है वह उतने ही शीघ्र उनसे प्रभावित होकर उन्हें ग्रहण और प्रदर्शित किया करता है। स्वयं ये विचार-कण उसके हृदय, मस्तिष्क और आत्मा में भिदने जाते हैं। एकाकार करते हैं उनकी पूर्व उर्वरा शक्ति का उपभोग करते हैं और तब हम देखते हैं किसी कलाकार की आत्मा से निस्सृत हुआ उसकी आत्मा का रस, उसके कोने-कोने में समाया हुआ, उसकी आत्मा के कोने-कोने को स्पर्श करनेवाला रस वह वसुधा को देता है और एक अपूर्व अलौकिक आत्मतुष्टि का अनुभव करता है। सृजन करता है।)

इसमें पंतजी ने अपनी काव्य-कल्पना, स्वप्न और आदर्श बड़े ही सुन्दर रूप में प्रदर्शित किये हैं।

पंत विशेषणों, शब्दों, प्रकृति और गीतों का कवि है। इस नाटक में उसकी ये सब विशेषताएँ सुन्दर और सरस रूप में एक ही स्थान पर एकत्रित और निचुड़ी हुई पाई जाती हैं। उसकी कल्पना सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, उसके स्वप्न सुखद, आह्लादकारक जीवन स्रोत हैं। उसका काव्य प्रकृति सहचर भावनाओं को प्राकृतिक पदार्थों को काव्य में प्रयुक्त होनेवाले प्राणियों को, शब्दों में ढालनेवाला, उन्हीं के समभाव और अनुरूप भाव-लहरिएँ पैदा करनेवाला है। जैसा राग-रागिनियों के सम्बन्ध में कहा जाता

है कि वे अमुक-अनुक समय अमुक-अमुक प्रकार से अमुक-अमुक प्रभाव पैदा कर सकती हैं वैसे ही पंतजी के गीत और अभिनय के लिये वेश-भूषा-भाव आदि के संकेत उसी प्रकार का यथावत भाव शब्दों द्वारा प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हैं। पंत में जो इस प्रकार का कवित्व है उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करना पड़ती है। (पंत शब्दों द्वारा उन पदार्थों की जैसे ज्योत्स्ना, उषा, पवन आदि एवं प्रकृति के प्राणियों की जैसे जुगनू कोक, महोदक आदि एवं पुष्पों आदि की पूर्ण अनुभूति हमारे मानस पट पर बरवा देते हैं। पंत कवि जो अनुभव करता है, देखता है उसमें जो भर देता है उसे वह बड़ी ही कुशलता के साथ, सरसता के साथ हम तक पहुँचा देता है।)

उनकी इस सरसता में एक बात हमें कर्णकटु और बेदव-सी नजर आई। वह ज्योत्स्ना के अनुचर उलूक की है। उलूक शब्द अब तक की परम्परा द्वारा मुझे कटु प्रतीत होता है। रजनी अनुचर हुआ होता तो कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि रजनी से (ज्योत्स्ना के होते हुये भी) हम अन्धकार का भाव ग्रहण कर सकते हैं। अंधकार पूर्ण रात्रि में ही उल्लू की विशेषता है उसके देखने के कारण। किन्तु चाँदनी रात में उसका विशेष महत्व नहीं यद्यपि वे चाँदनी रात में किसी अदृश्य लोक में नहीं भाग जाते हैं। इसलिये ज्योत्स्ना के साथ उलूक का होना रस विरस करता है। खटकता है।

मनुष्य के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब “शिशुता की झलक” छूट जाती है। वह कवि हो उठता है। (स्वप्न और कल्पना उसके सहचर बन जाते हैं। आदर्श और भविष्य उसके पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं। यहाँ तक कि वह वतमान की अवहेलना करता हुआ ऊर्ध्व मुख हो जाता है।) ऐसे ही समय की पंतजी की यह रचना प्रतीत होती है।

यद्यपि गुंजन-सी प्रौढ़ रचना के बाद यह हिन्दी संसार को मिली । संभवतः 'कामना' के प्रकाशित होने के वर्ष दो वर्षों के अन्दर हो ।

रचना भाव-प्रधान है इसलिये इसमें व्यापार का कोई विशेष स्थान नहीं । संघर्ष, अंतर्द्वन्द्व, घात-प्रतिघात, चरित्र-चित्रण कुछ भी नहीं । कथावस्तु भी सुसंगठित या नाटक के योग्य नहीं । विखरी और सामञ्जस्य-हीन है । केवल विचारों एवं भावों को ही अधिक महत्व दिया गया है । नाटकीय अन्य अंगों पर ध्यान नहीं दिया गया । हाँ नाटकीय वेश-भूषादि के संकेत अवश्य दिये गये हैं जो पूर्ण और विस्तृत हैं और लेखक के तद् विषयक निरीक्षण और अवलोकन के परिणाम हैं । किंतु हिन्दी का रंग-मंच ही नहीं । इस प्रकार के रंग-मंच केवल यूरोपीय ढंग पर बने हुये हों तब ही इसका अभिनय किया जा सकता है । पर प्रेक्षक को यह कहाँ तक रस-प्लावित कर सकेगा यह विचारणीय है । कवि हृदय रसिक इस प्रकार की भाषा और भावों से परिचित साहित्यिक प्रेक्षकों का यह अवश्य मनोरंजन करेगा किंतु फिर भी पढ़ने में स्वयं निजी कलाना के आधार पर जो आनन्दातिरेक वे प्राप्त कर सकते हैं उसका चतुर्थीश भी वे इससे नहीं कर सकेंगे । क्योंकि भावप्रधान नाटकों में यदि इस प्रकार की भाव-प्रवणता रहेगी तो अवश्य उनके अभिनय किये जाने पर वे कम समझे जायेंगे और कम रस ग्रहण किया जा सकेगा । 'प्रपाद' के नाटकों में भी यही दोष रंग आया है जिसका कुछ अंशों में बाद में परिहार हो गया है । इसलिये इस रचना को श्रव्य काव्य के अन्तर्गत लेकर ही इस पर विचार करना उचित है । नहीं तो अभिनय की दृष्टि से तो यह बच्चों के खेल या खिलवाड़ सा प्रतीत होगा; जैसे जुगनुओं का अभिनय करते समय छोटे बालकों का पर लगा कर आना । इसी प्रकार से अन्यपात्र जैसे ज्योत्स्ना, इंदु, पवन, सुरभि आदि भी हमें अभिनय के समय वास्तविकता के आनन्द देने में समर्थ नहीं हैं । कई

स्थानों पर मूक अभिनय है और गीतों की इसमें आवश्यकता से अधिक भरमार है। यह इस दृष्टि से भी अभिनय के योग्य नहीं। हाँ सवाक चित्रपट पर सम्भव है, इसका योग्य अभिनय किया जा सके क्योंकि उसमें रङ्ग-मंच के समान स्थल का संकोच नहीं होता और रात्रि का चित्रण भी सुन्दर हो सकता है। जिस प्रकार के प्रकाश अथवा रङ्ग-लेखक प्रयुक्त करवाना चाहता है उनका प्रबंध या तो आधुनिकतम यूरोपीय नाट्य-गृहों में हो सकता है अथवा सवाक चित्रपट तैयार करनेवाली कंपनियों के स्टूडियो में।

इस प्रकार के नाटकों का एक उपयोग और हो सकता है। वह यह कि ये संगीत गृहों के लिये सर्वोत्तम कृतिएँ हो सकती हैं। जहाँ पर अभिनय की ओर कोई विशेष लक्ष्य नहीं रहता केवल संगीतमय गीतों का ही प्राधान्य रहता है। यह रचना ऐसे ही स्थल के अधिक योग्य है जहाँ गायन-वादन और मूक अभिनय के साथ-साथ इसकी कथावस्तु भी धीरे-धीरे चला करे।

सावरमती आश्रम महात्माजी के स्वप्न, कल्पना, आदर्श और अन्तर्निहित कवित्व का साकार और सजीव रूप था। महात्माजी ने अपने प्रमुख महत्वपूर्ण आदर्शों को एक बार कार्यान्वित करने की 'एक घूट' उसमें चेष्टा की थी। स्वास्थ्य, सरलता और एक प्रकार के आंतरिक सौंदर्य का नमूना उसे वे बनाना चाहते थे और बहुत कुछ अंशों में वे सफल भी हुये थे। इसी समय कतिपय घटनाओं ने उन्हें उक्त आश्रम से विरक्त कर दिया। उनका एक आदर्श वहाँ सपली के रहते हुए ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना भी था। एक दूसरा आदर्श था स्वावलम्बन जिसमें शिक्षित और उच्च कुलीन तक झाड़ू लगाने और पाखाने साफ करने तक का कार्य निःसंकोच करते थे। इन आदर्शों की पूर्ति में जिस समय वे लगे हुए थे तब ही इस बात की चर्चा फैली कि

आश्रम वासियों का जीवन उतना संयमित नहीं है जितना कि होना चाहिये। कतिपय दोष और कमियाँ उसमें आ गई थीं और महात्माजी को उसे बन्द करना पड़ा। इसके बन्द करवाने में मानव-मनोविकार मुख्य थे जो स्वाभाविक और सहज थे। उन मनोविकारों पर विजय प्राप्त करना दुष्कर था, दुष्कर रहा है और यदि दुनियाँ को, मानव समूह को जीवित रहना है, सृष्टि को रहना है, तो ये मनोविकार दबाये नहीं जा सकते। इसमें नारी-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण सृष्टि के सृजन के लिये अनिवार्य है। यह आकर्षण सृष्टि को सीमित, कमित और सर्वथा नष्ट होने से बचाता रहा है। इसी ने प्रत्युत सृष्टि की वृद्धि करके नई-नई समस्याओं को जन्म दे दिया है। इसी आकर्षण ने विश्व-बंध-विभूति को भी उसके बाल-आग्रह पर चेतावनी दी और उसे पीछे हटना पड़ा।

इसी समय असहयोग आंदोलन ने जो किरणें स्वतंत्र भावनाओं की विकीर्ण की थीं वे भारत में फैल चुकी थीं। उक्त आंदोलन तो रुक गया था किन्तु उसकी भाव लहरियाँ तरंगों के समान किनारों तक पहुँच रही थीं। उसी समय कतिपय भावुक कवि हृदय ऐसे शब्द-वादी तरुण दिखाई देने हैं जिन्होंने एक विशेष प्रकार के शब्दों को, उनके प्रकाशनों के ढंगों को कुछ अस्पष्ट भावों को चुना, जिनके सहारे वे भावुकता-वश एक कृत्रिम जीवन को श्रेयस्कर समझने लगे। अपने को उसी जीवन के अनुरूप गढ़ने लगे और अपनी इस गढ़न को स्वाभाविक मान कर स्वयं को अनजाने धोखे में रखने लगे।

कतिपय इन्हीं बातों का चित्रण हमें 'प्रसाद' के 'एक घूँट' में मिलता है। इसकी कुछ बातों का मूलांकुर और सूषम को पंत ने भी 'ज्योत्स्ना' में विकसित पल्लवित और वृद्धिगत किया है। यहाँ तक कि चंदुल्लों का हास्य भी हमें 'ज्योत्स्ना' के छाया और उल्लू के वार्तालाप

में समानुपाततः उतनी ही दूर की नाट्य सामग्री में मिलता है । किंतु 'प्रसाद' ने 'एक घूँट' को अपने कवित्व और भावनाओं के योग्य गढ़ा है । 'कामना' के समान इसमें उतनी कल्पना नहीं है । जो है वह वास्तविक और जीवन के अति निकट की । इसमें शिक्षित झाड़ूवाला एवं उसकी स्त्री के समझोते एवं 'बनलता' के असंतोष और अतृप्ति के अभाव का विस्तार, वृद्धि और विकास लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी किया है । इस लेखक ने 'प्रसाद' से कविता में भी बहुत कुछ लेकर, उसके भारतीय और प्रसादोचित काव्यत्व को लेकर, पाश्चात्य अभिव्यक्ति एवं स्पष्टीकरण सहित उसका निदर्शन किया है । प्रसाद तुलसी था । मालूम पड़ता है आगामी २५ वर्षों में साहित्य अध्ययन और मनन के पश्चात् ज्ञात होगा कि सूर और तुलसी की उक्तियों और उपमाओं के समान प्रेमचन्द और प्रसाद से भी कइयों ने शब्द, रचना, भाव लहरिएँ ग्रहण की हैं । कइयों में तो वे इनके व्यापक प्रभाव के कारण स्वभावतः ही आगई होंगी ।

'एक घूँट' में अरुणाचल आश्रम की कथा है । "अरुणाचल पहाड़ी के समीप एक हरे-भरे प्राकृतिक बन में कुछ लोगों ने मिल कर एक स्वास्थ्य निवास बसा लिया है । कई परिवारों ने उसमें छोटे-छोटे घर बना लिये हैं । उन लोगों की जीवनयात्रा का अपना निराला ढंग है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की संधि है । उनका आदर्श है सरलता स्वास्थ्य और सौंदर्य ।"

इसके पात्रों में आश्रम के मंत्री कुञ्ज एवं उत्साही और तर्क-शील युवक मुकुल का कोई विशिष्ट स्थान नहीं । वे केवल कतिपय प्रसंगों पर पूर्तियों का ही काम करते हैं ।

रसाल 'एक भावुक कवि' है । प्रकृति से और मनुष्यों से तथा उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिये सामग्री जुटाने में व्यस्त

सरल प्राणी है। कवि है इसलिये कल्पना और निजत्व से उसे प्रेम है। करुणा और निराशा के संबंध के विचारों पर जब 'आनन्द' कहता है 'ऐसी भावनायें हृदय को कायर बनाती हैं' तब वह निष्काम, अलिस भाव से स्वीकार कर लेता है "कि यह मेरी कल्पना की दुर्बलता है।" आनन्द के इस ध्येय को कि प्रेम का प्रचार करके, परस्पर प्यार करके, दुःखमय विचारों को दूर भगाना चाहिये, वह स्वीकार करता है किन्तु इसमें उसकी आत्मा कभी भीगी नहीं। उसके इसकवित्व एवं निजत्व के कारण ही वह बनलता को प्यार करता हुआ भी संतुष्ट नहीं कर सकता है और न इतना विश्वास करा सकता है कि वह उसे चाहता है। बनलता सदा उसे अपने में मिला रखना चाहती है। रसाल का इससे कोई दुरत्व नहीं, उसे कोई आपत्ति नहीं, पर वह जो कवि है, भावुक है, बनलता में, नारी में खुश मिल नहीं जाता। अन्त में वह अपनी प्रियतमा बनलता को पहिचान लेता है। शायद नारी के प्रति कवि का भी कुछ कर्तव्य होता है इसे महसूस कर लेता है।

और बनलता वह 'अपने पति की भावुकता से असंतुष्ट' है। "उसकी समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने में व्यस्त रहती है।" वह नारी थी। नारी ने सदा से पुरुष के लिये बन्धनों की सृष्टि की है। नारी के नारीत्व ने, उसके नारीत्व की विजय ने सदा मनुष्य को पराजित किया है। मनुष्य ने स्वतंत्र होने की खूब ही चेष्टाएँ की हैं। आज भी मनुष्य पाश्चात्य सभ्यता, हमारा आज का अप-टु-डेट भारतीय तरुण नारी स्वातंत्र्य और स्वच्छन्द प्रेम के नाम पर 'नारी' समानाधिकार के नाम पर उसे व्यवसाय और धंधे देकर स्वतंत्र करना चाहता है। किन्तु नारी के बन्धन इतने दृढ़ हैं कि मानव का ही क्या महामानव भी उसके बन्धनों की अवहेलना करने में समर्थ नहीं। उसका नारीत्व जहाँ पराजित होता है वहाँ उसकी सृष्टि संतति-मोह उसे सुदृढ़ बाहुओं में कसे

रहता है। और सबसे बड़ा अचूक शस्त्र जो नारी के पास है पुरुष को वश में करने का वह उसका रूप लावण्य नहीं उसकी विवशता और व्यथा है जिसका क्रंदन पुरुष को कभी स्वतंत्र नहीं होने देगा। नारी आकर्षण जहाँ पराजित होगा वहाँ उसकी घनीभूत व्यथाएँ और विवशताएँ मनुष्य को सदा पराजित करती रहेंगी।

इमीलिये वनलता भी रसाल की कविता की इस पंक्ति से 'भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बन्धन खोल' टीस और कसक से भर जाती है। उसे अभाव और अनृप्ति का भान होने लगता है। वह निरंतर इसी स्वच्छंद प्रेम की सफलता को विफल करने में लगी रहती है। अंत में इसी 'उच्छृंखल प्रेम को बाँधने में वह सफल प्रयास होती है। वह प्रेमलता और आनन्द के संबंध में भी सफल होती है। युवक आनन्द जहाँ शब्दाडंबर में एक विशेष भाव-भंगिमा के साथ जब स्वच्छंद प्रेम की व्याख्या और समर्थन करता है, सब पर सम प्रेम का दावा करता है तब ही नारी वनलता उसके पाखंड को ताड़ जाती है। उसे नारीत्व में व्याप्त शक्तियों का दृढ़ अचल विश्वास था। वह जानती थी कि 'आश्रम में एक प्रेमलता ही तो कुमारी है और यह 'आनन्दजी' भी कुमार ही हैं।" "आश्रम के 'आनन्द' कुमार हैं और प्रेमलता कुमारी इनका संपर्क, इनका मिलन इनका एक दूसरे में रस लेना उसी मानव स्वभाव की प्रतिक्रिया है जो प्रति मानव में व्याप्त है" उसे यह असंतोष रसाल के प्रति अवश्य था कि " निरीह भावुक प्राणी ! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं। परन्तु मेरे अंतर्नाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते।" आनन्द उसकी इस स्थिति से परिचित था। वह एक स्थान पर उससे कहता है " देवी, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न, तब भी हृदय भूखा और

प्यासा। इसी से मैं स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ। वह कहती है—
“देखूँ तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय।”

प्रेमलता एक अलहड़ किशोर वय कुमारीका है। युवक, फिर उसके मनोनुकूल या भावुक युवक ‘आनन्द’ उसका प्रेम-पात्र सरलता से बन जाता है। वह भी आनन्द से एकाकार होने का स्वप्न देखने लगती है। उसमें आकाँक्षा, प्रेम जाग्रत हो जाता है और अन्त में वनलता के कथनानुसार उसका आनन्द से पाणिग्रहण हो जाता है।

आनन्द उन भावुक तरुणों का नमूना है जो एक विशिष्ट कृत्रिम शब्दावली, भाव-प्रकाशन की शैली के आधार पर अपने को साधु घोषित किया करते हैं या दिखाया करते हैं। अनुभव हीन इन तरुणों के कुछ आदर्श, कुछ स्वप्न और कुछ आकाँक्षाएँ होती हैं। उन्हें पूरा करने का दृढ़ निश्चय और सामर्थ्य होता है। किन्तु प्रकृति के नियम वश जैसे बालक, तरुण और फिर बूढ़ा होता है, उनके स्वप्न अलौकिक से लौकिक, उनके आदर्श व्यवहारिकता की सतह को छूते हुए और उनके निश्चय और सामर्थ्य परिस्थितियों के सहचर हो जाते हैं। स्वतंत्र प्रेम के पक्ष-पाती ‘आनन्द’ की भी यही दशा होती है। उसके लुभावने आदर्श, सिद्धान्त आश्रम वासियों को विस्मय-विमुग्ध, और उसकी आँखें आकर्षित कर देते हैं। प्रेमलता के हृदय में उसके प्रति प्रेम पैदा कर देते हैं किन्तु अन्त में वनलता द्वारा कथित हृदय की ही उसके मस्तिष्क पर विजय होती है।

इनमें बालकों के समान अनुकरण, वाह्य चित्रण और साधारण बातें पाई जाती हैं। ‘प्रायश्चित्त’ के पहिले ‘सज्जन’ लिखा गया ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि पहिले कोई रचना प्रायः ‘प्रसाद’ की बाल-कृतिएँ अनुकरण से प्रारंभ होती है इसलिये ‘सज्जन’ में ‘सज्जन’ और ‘प्राय-श्चित्त’ संस्कृत के नाटकों का अनुकरण, प्रभाव और शैली दिखाई देती है। वही आदि में नान्दी और

वह भी उसी ढंग का जैसा संस्कृत नाटकों में पाया जाता है। उन्हीं की तरह नटी और सूत्रधार का वार्तालाप होता है और उन्हीं की तरह इस वार्तालाप से ही किसी शब्द या घटना का आधार लेकर नाटक का नामकरण होता है तथा नाटक की कथावस्तु का प्रारम्भ मान लिया जाता है। श्लोकों के ढंग की ही कविताएँ और उनका प्रयोग है। अन्त में भी भरतवाक्य के ढंग की ही कविता है अथवा भरतवाक्य न लिख कर भरतवाक्य दे दिया गया है अर्थात् अन्त में भरतवाक्य के जैसी शुभ कामना प्रकट की जाती है वैसे ही इसमें भी की गई है। कथानक और कथोपकथन बालकों जैसा खिलवाड़ है। कर्ण-विदूषक का, दुश्शासन-राक्षस का, भीम, अर्जुन आदि का वार्तालाप भी उसी प्रकार का है जैसा प्रायः बालक देखना अथवा दिखाना पसन्द करते हैं। शत्रुसेन और अर्जुन का युद्ध भी इसी तरह का है। दोनों द्वन्द्व युद्ध करते हैं किन्तु एक-दूसरे को पहिचान नहीं पाते हैं। किन्तु यह दोष नहीं बाल-क्रीडोचित है। लेखक का उद्देश्य तो युधिष्ठिर की सज्जनता दिखाने का है और इसलिये कथा को एक छोटेसे नाटक के दायरे में बन्द कर दिया गया है।

पर बाल-कृति होने पर भी लेखक का मानसिक विकास इसमें स्पष्ट रूप से झलकता है। प्रारम्भ में लेखक अनुकरण से प्रारम्भ करना चाहता है किन्तु उसका प्रतिभावान मस्तिष्क प्राचीन अनुकरण को ग्राह्य नहीं करता और अन्त में अनुकरण करता हुआ भी, भरतवाक्य का आशय और आत्मा लिखता हुआ भी भरतवाक्य लिखना छोड़ जाता है। 'प्रायश्चित' में तो एक बार ही उसने इस प्राचीन प्रथा को तिलांजलि दे दी है।

'प्रायश्चित' तक पहुँचते-पहुँचते कविता के समान इन लघु-नाटकों में भी प्रौढ़ता आने लगी थी। इसमें 'प्रसाद' ने जयचन्द के रूप में

हमारे विचारों को व्यक्त किया है। भारतीयों के हृदय में जयचंद एक कलुष, एक देश-द्रोही, एक पतित के रूप में अंकित हो गया है। भारत की पराधीनता का प्रथम आह्वानकर्ता केवल वही नहीं था। उस समय की विकृत पारस्परिक द्वेषों से दग्ध राजपूति-शक्ति थी। जयचंद ने इस शक्ति का उस समय प्रतिनिधित्व किया था। पारस्परिक मनोमालिन्य की वेदी पर भारत की स्वाधीनता की बलि दी थी। इसलिये भारत-वासियों की खीज तो जयचंद पर ही निकलनी है। निकलती है उसके द्वेष, देश-द्रोह, कायरता, नासमझी और शत्रु-पक्ष से सहायता की याचना पर।

‘प्रायश्चित’ में प्रसाद ने ऐसा ही चित्रण किया है। कथानक दो विद्याधरियों के वार्तालाप से प्रारम्भ होता है। उनमें एक “हिंदू-साम्राज्य-सूर्य” “चौहान-कुल-भूषण” पृथ्वीराज के ‘सर्वस्वान्त’ का कारण समझाती हुई कहती है, “यदि भाई का शत्रु भाई न हो—यदि शैलवासिनी सरिता ही शृंग को न तोड़े—तो भला दूसरा क्या कर सकता है?” दूसरी पूछती है “क्या किसी नीच भारतवासी का ही काम है?” जैसा कथानक प्रारम्भ होनेनाला है, जैसा चित्रण किया जानेवाला है उसी के अनुरूप पृष्ठ-भूमि तैयार की जा रही है। ‘प्रतिहिंसा’ का समर्थन वे करती हैं। उसे जीवित राष्ट्र का चिह्न मानती हैं। इसी समय एक आहत प्यासे की ओर उनकी दृष्टि जाती है और वह जयचंद ही निकलता है। वे इस ‘चाण्डाल’ से कुछ प्रायश्चित कराने के इरादे से उसी ओर जाती हैं। दूसरे दृश्य में जयचंद पृथ्वीराज की चिता की राख को द्वेषवश कुचलना चाहता है किंतु ये ही विद्याधरियाँ उसे जिसमें संयोगिता की भस्म भी मिली हुई है चेतावनी देकर उसे इस कार्य से विरक्त, उसके कार्य से उसे ही लज्जित और प्रायश्चित की ओर अग्रसर करती हैं। वे उसे “जामातृ-वध के लिये शत्रु-वध और देश-द्रोह के लिये ‘आरम-वध’

की बात सुझाती है। तृतीय-दृश्य में जयचन्द मुहम्मद गोरी की उसी पर चढ़ाई करने के संबंध में बातचीत करता है। पाँचवें दृश्य में एक बार वह चेष्टा करता है कि भारत की राजपूत जाति उसका साथ दे, किंतु ऐसा हो नहीं पाता। राजागण तरह-तरह के बहाने बना कर किनाराकशी कर जाते हैं। छठवाँ उसके गंगार्पण का दृश्य है।

इस नाटिका से हम भारतीय संस्कृति के संपोषक, कल्पना और कविता के धनी प्रसाद से परिचित होने लगते हैं। उनकी स्वतंत्र और मौलिक भावना का पता इसी से लगता है कि 'प्रसाद' के ऐतिहासिक इसमें कथानक सीधे-सीधे छः दृश्यों में बाँट दिया नाटकी के मूलांकुर गया है। इसी में उनकी आत्मा का प्रारम्भिक

उबाल, उनकी कल्पना का मूलांकुर, कविता के अभाव में भी उनके कवित्व की सूक्ष्म झलक दिखाई देने लगती है। कथानक का संकलन और विभाजन, प्रबंध और प्रबंध-कुशलता के दर्शन भी इन्हीं बाल प्रसाद के नन्हें प्रयासों से होने लगते हैं। (उस 'प्रसाद' के, 'प्रसाद' की उस महानता के जिसने भारतीय इतिहासाध्ययन के आधार पर अपनी रचनाओं द्वारा आज भी और भविष्य में भी भारत के लिये उन परिस्थितियों, षड्यंत्रों, संघर्षों का चित्रण किया है जिनसे भारतवासी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। भारत सट्टा महाद्वीप, महादेश का जिन परिस्थितियों ने, कारणों ने, अपकार किया है, उसे साम्राज्य में बँधने नहीं दिया है और बँध कर बिखर जाने दिया है उनका सर्वांग-पूर्ण चित्रण किया है। 'प्रसाद' हजारों वर्षों के पीछे की तह-की-तह को खोलते हुए अन्दर-ही-अन्दर घुसते गये हैं। उनमें रंग गये हैं। उस समय के हो गये हैं। तुलसी बाबा ने "नाना वेद-पुराण निगमादि" में जैसे पैठने का साहस किया था और वे राममय हो उठे थे। ऐसे ही हमारे आज के इस युग का तुलसी भारतीय इतिहास के गौरवमय युगों

में पैठा है, रमा है, और विचरा है और कल्पना और काव्यमय हो उठा है। इतिहास को सरस, काव्यमय, उन युगों को सचित्र और वर्तमान बनाने में इस कल्पना और कवित्व के धनी प्रसाद ने श्रेष्ठतम अमर प्रवास किया है।

‘प्रसाद’ के नाटकों को पढ़ते समय उन युगों के सजीव चित्र हमारे सामने आ जाते हैं। क्या भाषा, क्या भाव, क्या चित्रण, क्या घटना, सब से हमें यही भान होने लगता है कि हम उन्हीं युगों में हैं और इसी-लिये उन युगों को समझने के लिये, उन युगों के जीवन, संघर्ष और राज-सत्ता की बारीकियों का अवलोकन करने के लिये हमें ‘प्रसाद’ को पढ़ना होगा। प्रसाद के नाटकों का अनभिन्न-योग्य समझने का एक कारण यह भी है कि हम उन युगों को उसी रूप में देखना चाहते हैं। सिद्धान्ततः पसन्द करेंगे। किंतु जब वेही युग हमारे सामने असली रूप में प्रकट होते हैं तब हम ‘प्रसाद’ से यह क्यों आशा करते हैं कि वे उन युगों को हमारे युग में परिणत करें। यदि प्रसाद ने हमारे मन के अनुकूल ऐसा ही किया होता तो क्या हम यह नहीं कहते कि उनके नाटक तो आधुनिक से लगते हैं। उस युग के सङ्ग नहीं मालूम पड़ते। अभिनय में वेश-भूषा फिर उन कालों की क्यों रखी जाती है? स्टेज की सजावट और सामग्री पर इसी प्रकार का ध्यान क्यों दिया जाता है? फिर प्रसाद ने तो भाषा और भावों के द्वारा उन युगों को हमारे सामने ला रखा है। इतिहास की दुरुहता को प्रसाद की प्रतिभा गरल के समान पान कर गई है और सारतत्त्व और अमृत साहित्य, सच्ची कला, सुन्दर कृतियों अथवा नाटकों को हमें दिया है। जितना हम प्रसाद को पढ़ते जाते हैं उतना ही उनका इतिहास के आधार पर अवलंबित काव्यत्व, कला, सुन्दरता, प्रतिभा हमें अभिभूत करती जाती है। इतिहास का इतना उत्तम उपयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इसमें

संदेह नहीं 'प्रसाद' ने कल्पना से काम लिया है, किंतु उनकी कल्पना कला में आने के पहिले उस युग के साहित्य के कोने-कोने को सच्चे, यथार्थ रूपमें छान आई है। उनका अध्ययन, उनकी पैठ इतनी गहरी है, उनका वर्णन इतना वास्तविक है मानों कि प्रसाद उन्हीं युगों में पैदा हुए हों और अब उनका संदेश देने, उनको स्पष्ट करने पुनः अवतरित हुए हैं। साधारण घटनाओं में थोड़ा-सा मत भेद किसी इतिहासज्ञ से हो सकता है किंतु इतिहास की आत्मा, उस युग की मूल भावना और जीवन से किसी का मत भेद नहीं हो सकता। उनके नाटकों में वेदकाल, मौर्यकाल, गुप्तकाल और हर्ष के समय का वातावरण स्पष्ट हो जाता है। और जिसकी पैठ इतिहास में है वह तो विस्मय विमुग्ध हुए बिना रह नहीं सकता यद्यपि शुद्ध कला या साहित्य की, मनोरंजन की दृष्टि से भी 'प्रसाद' में पर्याप्त है।

— वेदकाल सभ्यता का आदि युग था। प्रकृति की मानव-सृजन-क्रिया कुछ ही समय पहिले समाप्त हुई थी। सभ्यता एक नन्हें पक्षी के समान अपने नव पाँखें खोल रही थी। तब मानव अपने वेदकालीन को कुछ समझने तो लगा था किन्तु पूरा पहिचान चित्रण — 'करुणा रय' नहीं पाया था। धीरे-धीरे पितृशासन से राज शासन की नींव पड़ चुकी थी। प्राचीन विश्वास कुछ लुप्त हो गये थे, कुछ लुप्त हो रहे थे एवं कुछ नवीन आ गये थे। वह उस समय की सभ्यता रहित और सभ्यता के प्रारंभ के युग का संधि-काल था। उस युग में राज-शासन संबंधी एवं सामाजिक विचारों में तो काफी चिन्तन, ग्रहण और विकास हो गया था किंतु मानव मानव के संबंध का सूत्रपात नहीं हुआ था। नियम और व्यवस्थाएँ कुछ प्रचलित हो गई थीं और कुछ हो रही थीं। नरबलि की आद्यकालिक प्रथा का राजा हरिश्चन्द्र तक अभाव नहीं हुआ था किन्तु उस समय एक संवर्ष

इस प्रथा के संबंध में उठ खड़ा हुआ, ऐसा ज्ञात होता है। इस प्रथा के पोषकों में संभवतः ऋषि वशिष्ठ एवं विरोधकों में विश्वामित्र रहे होंगे और अंततः विश्वामित्र की सुधार पूर्ण नवीन विचार धारा ने प्राचीन प्रचलित प्रथा संबंधी विचार पर विजय पाई होगी। इसी प्रथा का आख्यान राजा हरिश्चंद्र की कथा के रूप में वेदकाल में प्रचलित रहा होगा यद्यपि बाद में राजा हरिश्चंद्र का महत्व विश्वामित्र से संघर्ष होने और सत्यवादिता को श्रेय मिलने पर अवश्य बढ़ गया होगा। हरिश्चंद्र का प्रथम आख्यान मौलिक, प्रारंभिक और स्वाभाविक रूप में है और दूसरा दार्शनिक और काव्य समन्वित। प्रथम समय के साथ लुप्त होता गया और द्वितीय साहित्यिकता ग्रहण करने के कारण वेदों से पुराणों तक, जनता तक चला आया, फैल गया। दूसरा एक सीमित साहित्य में दबा पड़ा रहा। यह उस समय की वास्तविक स्थिति का सूचक है।

‘प्रसाद’ की प्रतिभा ने, करुणा ने, ‘करुणालय’ में प्रथम ही को चुना। ऐसा ही स्थल चुना जहाँ उनकी गौरवशालिनी प्रतिभा को उचित स्थान मिल सके। यद्यपि यह कृति बहुत पहिले की है और इसके लिखने का उद्देश्य केवल अनुकांत कविता के मार्ग निकालने का है किन्तु ‘प्रसाद’ के अन्तर में पाई जानेवाली करुणा के कण भी इसमें आ गये हैं। वरुणा की जितनी गहराई इस गीति नाट्य में आना चाहिये थी उतनी न आने का कारण इसकी रचना ‘प्रसाद’ को प्रारंभिक कला के द्वारा होना है। इसमें अनुकांत कविता के मार्ग प्रदर्शन की ओर लक्ष्य होने के कारण चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान न जाकर एक प्रथा विशेष और एक विचार-धारा के छोटे से संघर्ष की ओर ही ध्यान जाता है।

संध्या समय राजा हरिश्चंद्र वायु सेवन के लिए नौका विहार करते हैं। एक तूफान आता है और उनकी नाव अचल हो जाती है। आकाशवाणी

उनसे अपने पुत्र रोहिताश्व के बलि की प्रतिज्ञा की याद उन्हें दिलाती है और जब तक वे घर पर पहुँचकर इस प्रतिज्ञा की पूर्ति का पुनः वचन नहीं दे पाते हैं तब तक नाव नहीं चलती है। राजभवन में पहुँचकर इसका आयोजन किया जाता है किन्तु रोहिताश्व प्राणों के भय से राजभवन छोड़ कर चला जाता है। चलते-चलते वह अजीगर्त ऋषि के आश्रम में पहुँचता है। यहाँ अकाल पड़ा था और ऋषि अपनी आजीविका जुटाने में असमर्थ और चिंतित थे। रोहिताश्व उन्हें गायें देने का वचन देकर उनके तीन पुत्रों में से एक माँगता है। बड़ा पिता को व छोटा माता को प्रिय होने से वे मँझरे पुत्र शुनःशुफ को रोहिताश्व की जगह बलि देने के लिये देना स्वीकार कर लेते हैं। राज सभा वशिष्ठ के आग्रह पर रोहिताश्व के इस कार्य की कि उसके स्थान पर एक अन्य बालक की बलि दी जाय स्वीकार कर लेती है किन्तु शुनःशुफ भी प्राणों के भय से भगवान से अपने को बचाने की प्रार्थना करता है। विश्व से आकाश तक जैसे एक कंपन होता है। कोई उसका वध करने को तैयार नहीं होता। क्रूर आवश्यकता अजीगर्त को ही इस कार्य के लिये उद्यत करती है किंतु सुव्रता जो विश्वामित्र की गन्धर्व विवाहिता स्त्री थी और राजा हरिश्चन्द्र के यहाँ दासी रूप में सेवा करती थी और शुनःशुफ जिसका विश्वामित्र से पुत्र था आती है और उसके बचाने की प्रार्थना करती है। विश्वामित्र पहिले से ही इस घोर कृत्य का विरोध कर रहे थे अब राजा से आग्रह कर इस प्रथा को बंद करवा देते हैं और दूसरे से यज्ञादि का श्री गणेश करवाते हैं।

इस कथानक से इस बात की भी पुष्टि होती है और एक प्रबल कारण मिलता है कि वशिष्ठ से विश्वामित्र का महत्त्व जो पुराणों में पाया जाता है वह उनके सुधारवादी और नवीन विचारों के कारण ही हुआ होगा। यह व्यक्ति उस समय का अवश्य प्रतिभाशाली और

मौलिक विचारों का पोषक रहा होगा। क्षत्रिय से ब्रह्मर्षि होनेवाली घटना से भी यही बात प्रकट होती है।

वेदकाल आर्य-जाति के विस्तार का उषा-काल था। महाभारत-काल तक पहुँच कर इसने उस कालीन सभ्यता, राज-शासन आदि में काफी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। आर्य जाति अब पूर्ण-तया भारतवासी हो गई थी। उनके उपनिवेश अब एक देश हो गये थे। उनकी सभ्यता और शासन का केन्द्र सरस्वती और यमुना के निकटवर्ती उर्वरा भूमि हो गई थी। वह साम्राज्यवादिता, जिसे उस काल की भाषा में चक्रवर्तिष्व कहा जाता था और जिसका श्रीगणेश अश्वमेध की आयोजना से प्रारंभ होकर उसकी सफलता तक च १ कर १, १, का काल था।

उस समय “नाग जाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहिले सरस्वती के तट पर रहती थी। भारत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें वहाँ से खाण्डव वन की ओर हटाया। खाण्डव में भी वे अजुन के कारण न रहने पाये।” नाग जाति को अपने पूर्व गौरव का ध्यान था। अपनी खोई हुई सत्ता की पुनर्प्राप्ति की आकांक्षा थी। वह जाति दबी हुई, पराजित, नवीनतम आर्य-शस्त्रों से अनभिज्ञ और पिछड़ी हुई थी। किंतु आर्य-जाति से प्रतिकार लेने के साथ ही साथ उस समय उसके जीवन-मरण का प्रश्न भी उसके सामने था। आर्य-जाति बढ़ती और फैलती जाती थी और यहाँ के आद्य मूल निवासियों को जंगलों की ओर, पार्वतीय गुफाओं की ओर तथा अन्य बिन खोजे स्थानों की ओर खदेड़ती जाती थी। दोनों जातियों में संघर्ष चल रहा था। शान्ति नहीं थी। वे अपनी जाति को नेस्तनाबूद देखना नहीं चाहते थे। जीना चाहते थे। स्वयं आत्म-घात कर के मर नहीं सकते थे और जब तक यह जाति जीवित थी, उनमें मिला नहीं जाती थी तब तक आर्य जाति पनप कैसे

सकती थी ? उसकी वृद्धि और उन्नति इस जाति के नाश पर या आत्म-सात कर लेने पर निर्भर थी। प्रारंभ में श्रीकृष्ण की सम्मति पर अर्जुन ने उनके सर्वनाश का उपक्रम और इदं आयोजन किया। खाण्डव को अग्निसात् कर दिया किंतु इय जाति का वह सर्वनाश नहीं कर सका। धीरे-धीरे वह पनप गई। अब उसके हृदय में आर्य जाति के प्रति विद्वेष और कटुता थी। वह निर्बल थी। उपाय हीन थी और षड्यंत्र और गोरिल्ला युद्ध के सिवाय उसके पास अब कोई अन्य उपाय शेष नहीं रहा था। “खाण्डव दाह के समय नाग जाति के नेता तक्षक निकल भागे थे।” अब “नागों ने ब्राह्मणों से संबंध स्थापित कर लिया था; और इसी कारण वे बलवान होकर अपने गये हुए राज्य का पुनरुद्धार करना चाहते थे”.....तक्षक ने काश्यप आदि से मिलकर आर्य सम्राट परीक्षित की हत्या की” थी। इसी ऐतिहासिक आधार पर ‘जनमेजय’ की रचना की गई है। इसमें दोनों जाति के न केवल संघर्षों का वर्णन है किन्तु नाग जाति और आर्य जाति के एकीकरण का भी ब्रह्म उद्देश्य है। पहिले तो जरत्कार ऋषि की हत्या, ब्रह्म हत्या, के कारण जनमेजय अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करता है। नाग जाति से संघर्ष होता है। तक्षक काश्यप आदि ब्राह्मणों से मिलकर जनमेजय के मार डालने का षड्यंत्र करता है। किन्तु उसका वध तो हो नहीं पाता सम्राज्ञी वपुष्टमा का हरण हो जाता है। सम्राट जनमेजय अत्यधिक कुपित होता है। नाग यज्ञ करता है। नागों की आहुति दी जाती है। बाद में वह ब्राह्मणों से भी रुष्ट हो जाता है। किन्तु उसके गुरुदेव के आग्रह पर नाग यज्ञ का अंत होता है। महर्षि व्यास के आदेश पर वह तक्षक कन्या मणिमाला से पाणिग्रहण करके दोनों जातियों की एकता का सूत्रपात करता है।

यह नाटक कुछ अभ्यवस्थित सा है। उस समय का लिखा हुआ ज्ञात

होता है जब कि प्रसाद के मस्तिष्क में इतिहास के आधार नाट्य-रचना के लिये पूर्णतया जम नहीं पाये थे। यह कदाचित् उनकी प्रतिभा के ऐतिहासिक अध्ययन का प्रारंभिक काल था। इसका प्रथम अर्द्धभाग नाग जाति के अपनी सत्ता की पुनः प्राप्ति के प्रयत्नों और जनमेजय को पराजित कर नाग जाति की वृद्धि करने का है। अंतिम अर्द्धभाग से ही प्रायः नाट्य कथानक का प्रारंभ होता है। संघर्ष प्रारंभ होता है। वास्तव में प्रथम अर्द्धभाग की सामग्री का प्रयोग मध्य में होना चाहिये था किंतु प्रसाद अपने दृष्ट विषय के लिये प्रथम भाग में ही पृष्ठ भूमि तैयार कर देते हैं। इस नाटक से इतिहास को साहित्य या नाटक का रूप देने में वे सफल होने लगे हैं।

इस प्रगैतिहासिक काल के आधार पर अवलंबित रचनाओं के बाद जिनके उपकरण साहित्यिक हैं हमारा ध्यान जिसे इतिहासज्ञ विद्वान्

ऐतिहासिक काल कहते हैं, उस काल की तहों में

‘प्रसाद’ के ऐति- पैठनेवाली प्रसाद की रचनाओं की ओर जाता है।

हासिक काल के ‘अज्ञातशत्रु’, ‘चन्द्रगुप्त’, ‘विशाख’, ‘स्कंदगुप्त’ और

नाटक

‘राज्यश्री’ तो ऐसी ही रचनाओं में आती हैं। ‘ध्रुव

स्वामिनी’ की गणना यद्यपि इन्हीं रचनाओं में

एक प्रकार से की जा सकती है किन्तु इनसे और उसमें कई ऐसे मौलिक भेद हैं जिनके कारण उस पर पृथक् रूप से ही विचार करना उपयुक्त है। वह ‘नीलदेवी’ की श्रेणी में रखी जा सकती है। उसमें नारी-समाज की विवशता और व्यथा का चित्रांकण है। वह ‘प्रसाद’ की सब रचनाओं के दोषों से रहित सब गुणों की एक छोटी सी प्याली है। अभिनयोप-योगी नाटिका है। इनकी कथा वस्तु का विवेचन करते समय हमारा ध्यान भारतीय इतिहास की महानता और कमजोरियों तथा आधुनिक वातावरण, जो १९१६ से १९३८ के बाद शुरू हो रहा है, की ओर

जाना है। भारतीय गुत्थियों और विडंबनाओं, महान और बिखरे भारत के एकीकरण की समस्याओं तथा प्रजातंत्रों की सफलता और विफलता की ओर सहसा जाता है। प्रसाद के इन नाटकों में इस विषय पर विचार और मनन करने की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। वह भारतीय भावना सन्निहित है जिसमें प्रसाद के आदर्श हैं।

सन् १९२० में जो क्षुब्धता पैदा की गई, जो नेतृत्व प्राप्त हुआ वह १९२८-२९ तक बढ़ता रहा। व्यवस्थित होता रहा। १९३२-३३

में वह चरमसीमा पर पहुँचा और १९३८ तक उन 'स्कंदगुप्त' काल की प्रयत्नों के फल स्वरूप कुछ परिणाम निकला। कुछ भारत में पुनरावृत्ति आशा बँधी और आज फिर हम देखते हैं कि उसमें विकृति आ रही है। अव्यवस्था की ओर तरुण समाज का एक भाग दौड़ रहा है। जो देश को पीछे ले जानेवाला है, जो अव्यवस्था की सृष्टि कर उसमें क्रांति को जन्म देगा, किन्तु भारत जिस सुख-शांति, स्वतंत्रता, व्यवस्था के लिये उन्मुख है, आकाँक्षी है, उसे वह दूर ले जायगा। और इसके बाद हितहित क्या होगा उसकी ओर से मौन है। अदृष्ट और नियति क्या सृजन करेगी नहीं कहा जा सकता? किन्तु भारतीय इतिहास से, प्रसाद के उक्त नाटकों में विशेषकर 'स्कंदगुप्त' में शिक्षा ग्रहण करने के लिये बहुत कुछ है। कालेज में पढ़नेवाला तरुण 'स्कंदगुप्त' को पढ़ते हुए भी मनन नहीं करता, शिक्षा ग्रहण नहीं करता। भारत की दुर्दशा और इतिहास की अवहेलना करता है। परिणाम यह हुआ है कि केन्द्रीयकरण की भावना क्षत-विक्षत, छिन्न-भिन्न हो रही है।

किसी अन्य देश के संबंध में यह बात घटित होती हो अथवा न होती हो किन्तु भारत के संबंध में तो आज की परिस्थिति स्पष्ट रूप से बता रही है कि 'इतिहास में पुनरावृत्ति' का सिद्धान्त

भारत में केन्द्रीय-पूर्ण रूप से लागू होता है। भारत एक महाद्वीप,
 करण की भावना एक महादेश है। कई प्रान्त यूरोप के कई देशों के
 का निदर्शन बराबर हैं। यूरोपीय देशों के समान यहाँ के देशों में
 भी उपदेशीयता का भाव प्रबल रहा है। प्रान्तीयता

अथवा पराधीनता से जकड़े हुए भारत की विश्व-बन्धुता, गुलाम, निर्बल
 भारत की विश्व-बन्धुता उसके लिए अभिशाप बन-बन कर सदा उसे
 सताती रही है। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से चन्द्रगुप्त, अशोक
 कनिष्क, समुद्रगुप्त (गुप्त) चन्द्रगुप्त (गुप्त), विक्रमादित्य, हर्ष आदि के
 प्रयत्न एकीकरण के लिए ही हुए हैं। सम्भव है उनमें किसी को
 साम्राज्यवादिता की गन्ध आवे किंतु भारतीय साम्राज्यवादिता-चक्र-
 वर्त्तिव—भारत हितार्थ ही रही थी। समग्र भारत का भारतीय भाव
 एक संस्कृति, एक जाति, एक धर्म, एक देश के कारण कभी छिन्न-भिन्न
 नहीं हुआ। प्रत्येक भारतीय अपने को एक ही समझता रहा। विभिन्न
 प्रान्तों में ब्राह्मण्य व बौद्धत्व आदि के कारण एकता रही। इससे यह
 सूचित होता है कि समग्र देश को एक ही भाव में देखने की आकांक्षा
 प्रारंभ से प्रत्येक भारतीय में रही है। राजकीय सीमाएँ बनती और
 बिगड़ती रहीं किन्तु भारत के हृदय-स्थल में बहनेवाली समस्त भारत की
 एक ही धारा सब में बहती रही। आज भी परिस्थितिएँ स्वार्थ और
 मानापमान के कारण भीषणतर होती जा रही हैं। हम लोग एक क्रांति
 की ओर जैसे विवश होकर बढ़ते जा रहे हैं। हम जानते हैं कहाँ जा
 रहे हैं किंतु अपने गमन को रोकने में जैसे असमर्थ हैं। उस क्रांति के
 आवरण में प्रकाश और अंधकार, आशा और निराशा दोनों हैं। देखना
 यह है कि भारत भारत ही रहेगा अथवा प्रांतों में बँट जायगा। हम
 अपना, भारत का कल्याण करेंगे अथवा हमारे शत्रुओं का, भारत की
 स्वतंत्रता, शांति, उन्नति के शत्रुओं का। आज प्रजासत्तात्मक प्रणाली

से उसके द्वारा होनेवाली शांति से, भावना से जैसे हम ऊब गये हैं । उस पर से हमारा विश्वास हटता जा रहा है । इन सब का हल है भारत के केंद्र का अति प्रबल होना । भारत में केंद्रीय शक्ति का न्यायी और प्रबलतम होना । यदि हम चाहते हैं कि भारत भारत ही रहे, प्रांतों में बैठकर अपने शरीरांगों को छिन्न-भिन्न न करे तो हमें समस्त भारतीय दृष्टि से ही विचार करना होगा । कांग्रेस ने एक बार पुनः भारत को एक सूत्र में पिरो दिया है और हमारा कर्तव्य है कि हम उस सूत्र को तोड़ न डालें । इसके लिए हमें व्यक्तित्व को, प्रान्तीयता को तिलांजलि देना होगा । व्यक्ति तो मरने रहेंगे, मानापमान तो आता जाना रहेगा, प्रांतीयता तो बदलती और बनती रहेगी किन्तु यदि हम भारत को एक और अखंड देखना चाहते हैं तो हमें अपना "अपनापन" खो देना होगा । भारतीयपन अपनाना होगा । सब बातों पर भारतीय दृष्टि से विचार करना होगा और जब तक भारत पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता तब तक अन्तरराष्ट्रीयता से लाभ उठाते हुए भी उसका दम भरने से हमारा कल्याण नहीं होगा । हम यह जानते हैं कि शासन कितना आदर्श, राम-राज्य सा क्यों न हो सब के साथ सदा न्याय नहीं हो सकता, सब की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ पनप नहीं सकतीं । वे सब व्यक्तियों में, स्वाथों, स्थितियों, भावों, विचारों, आचरणों तथा हृदय एवं मस्तिष्कों के कारण स्वाभाविक रूप से विभिन्न होती ही हैं । इस लिए उन सब में से हमें सब की समष्टि के कल्याण का मार्ग ही निकालना पड़ता है । बात यह है कि भारतीयता प्रत्येक व्यक्ति में समाना चाहिये । यही उचित भी है । किन्तु प्रत्येक का व्यक्तित्व यदि भारत में समा जायगा तो भारत की एकता का अवश्य नाश होगा । आज यह हम देख रहे हैं कि भारत का तरुण, एक समूह, एक नेता वर्ग अपने में भारतीयता देखने के स्थान पर अपना व्यक्तित्व भारत में देखना चाहता है ।

यह भारत के मौत की, पराधीनता को जकड़े रहने की निशानी है। राम राज्य में भी सीता के साथ न्याय हुआ था क्या ? क्या आप सोचते हैं कि भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने, सीता को, नारी को सम्मान की दृष्टि से देखनेवाले राम ने, जनता की आवाज पर सीता को, एक व्यक्ति को दुःख देना, उसके प्रति अन्याय करना, अपने हृदय पर वज्राघात करना न सह लिया ? तब हमें भारतीय स्वतंत्रता के कारण न केवल वर्तमान में किन्तु भविष्य में भी अपने पृथक व्यक्ति को दबाना पड़ेगा, कुचलना पड़ेगा और आवश्यकता हुई तो मृत्यु के घाट उतारना पड़ेगा। भारत जियेगा। भारत अमर रहेगा। भारत नहीं मर सकता। हम तो मर-मर कर जीवित होंगे। तब हमें क्या करना चाहिये ? हम अपनी ओर देखना चाहिये अथवा भारत की ओर यही प्रश्न हमारे समक्ष गंभीर होकर विचारार्थ उपस्थित रहा है।

‘प्रसाद’ के नाटकों में इस समस्या को इतिहास के आधार पर उठाया गया है। इसी के आधार पर आदर्श और हल रखा गया है। अंत-विद्रोहों का प्रभाव राज्य पर क्या पड़ता था ? धार्मिक उन्माद, व्यक्तिगत स्वार्थ, भारत की आदर्श-ग्रहणता, न्याय प्रियता का कब कैसा परिणाम निकलता था, भारत विजयी होते हुए भी क्यों पराजित होता था ? उसकी सज्जनता, उसकी विरक्ति उसकी वीरता का कब और कैसा प्रयोग होता था ? भारत में बिबिसार से लेकर हर्ष तक लगभग १२०० वर्ष तक, जब भारत अपने ही कार्यों का, भविष्य का नियामक और सृष्टा था तब वह क्या करता था ? इसका समुचित दिग्दर्शन “प्रसाद” के नाटकों में मिलता है।

भारत का ऐतिहासिक काल उस स्वर्ण युग से प्रारंभ होता है जब अहिंसा की प्रचारिका, विश्व वंश दो महाविभूतिएँ विश्व-कल्याण के लिये अवतरित हुई थीं। महावीर और गौतमबुद्ध के जीवन और तत्संबंधी

सृजित साहित्य इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने में बहुत दूर तक समर्थ हुआ है। इन्हीं के समय के राजा बिबसार अथवा श्रेणिक से हर्ष तक का लगभग १२०० वर्षों का काल वह ऐतिहासिक शुद्ध भारतीय काल है जिसका गौरव, जिसकी संस्कृति का अभिमान, जिसके साहित्य का श्रेय, जिसके इतिहास की श्रेष्ठता स्वतंत्र भारत, वास्तविक भारत की निज की देन है। इसके बाद का काल भारतीय एवं मुसलिम युग का संधिकाल था जो लगभग बारहवीं शताब्दी, ६०० वर्षों तक रहा था। यह पूर्व भारतीय राज्य सत्ता के हास-उदय, विजय-पराजय, सुघर्षमय वातावरण में अपनी स्थिति कायम रखने का युग है और जिस युग से भारत की अपनी देन दिनोंदिन क्षीण होने लगती है। मुसलिम युग में भारत से हिन्दुस्थान बनने का उपक्रम आरम्भ हुआ और आज वह बनता हुआ दृष्टिगोचर होने लगा है। मुसलिम काल के प्रारंभ से अब तक का भारत पूर्ण पराधीनता और पराधीनताजन्य अभिशापों का इतिहास है।

'प्रसाद' ने पूर्व-मुसलिम युग को ही अपनी प्रतिभा और कल्पना का क्षेत्र बनाया है। इस युग को बौद्ध-काल भी कहा जा सकता है क्योंकि गौतमबुद्ध द्वारा प्रचारित बौद्ध-धर्म का पूर्व मुसलिम युग में प्रसाद प्रकाश, विकास, चरम सीमा-प्राप्ति, हास और क्षी वृत्तियों के रमन का उन्मूलन भी इसी काल में हुआ। गौतम से कारण-भारत के गौरवमय प्रारम्भ कर शंकर तक इसकी सीमा निश्चित अतीत से प्रेम की जा सकती है। बौद्ध-धर्म के प्रभाव की दृष्टि से भी इस काल का यह नाम असंगत नहीं।

प्रसादजी की वृत्तिएँ इसी काल के अनुशीलन में रमी हैं। इस काल का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है, जो यद्यपि अपने-अपने धर्मों, सिद्धांतों की पुष्टि के लिये लिखा गया था तथापि उसमें प्रचुर

ऐतिहासिक सामग्री, उस युग के न केवल राज्य-परिवारों का वर्णन किंतु जनसाधारण की स्थितियों का, दशा का भी पूर्ण वर्णन मिलता है। तत्कालीन जन-समूह की भावना भी मिलती है। प्रमाद ने इस युग के साहित्य का पर्याप्त अध्ययन किया है। वह सर्व सम्मत इतिहासाधारों एवं स्वाध्ययन पर अवलंबित है। इसीलिये वे इतिहास का साहित्य से समुचित सामंजस्य स्थापित कर सके हैं। इसलिए उनकी कृतियों में, विशेषकर नाट्य-कृतियों में ऐतिहासिकता, दार्शनिकता, कल्पना और काव्यत्व कूट-कूट कर भरा हुआ है। उनकी रचनाओं में न केवल हमारी गौरवमय स्थिति, सघर्षमय जीवन, हमारी स्वतंत्र उद्भावना शक्ति का परिचय, घटनाओं को हमारे अनुकूल चलाने की प्रतिक्रिया, राष्ट्रों को सृजन, विनष्ट करने, उनके पोषण, रक्षण, व्यवस्थित करने की व्यवस्था मिलती है किंतु भारत के भविष्य का पथ-प्रदर्शन, नियंत्रण और आदर्श भी मिलते हैं। उनकी कृतियों में इसलिये इतिहास है, साहित्य है, अमरत्व है।

जनमेयजय का नाग यज्ञ में हमने देखा था कि नाग-यज्ञ के पश्चात् जनमेयजय ने—भारत ने—आशा का थी कि अब 'बालक सृष्टि' अपना खेल कर चुकी है। यज्ञों का, पुरोहितों के 'भारत एक और अखंड एकाधिपत्य का जमाना चला गया है और यज्ञों है' की भावना का की बाद, पशु-बलिदानों की भारमार ने विश्वात्मा 'प्रमाद' में प्राचुर्य को, मानवात्मा को धारा दिया है। ब्राह्मणों में से ब्राह्मणत्व, तपस्या, स्वार्थ त्याग, परार्थ सर्व-स्वाहुति, परहित-चिन्ता, विश्व के लिये अध्ययन-अध्यापन एवं चिंतन के लिये तिल-तिल गलने और जलने की भावना का लोप हो चुका है और इनका स्थान-ग्रहण कर लिया था अभिमान ने, अर्थ लोलुपता ने, अद्रमन्यता ने, पाखंड ने, दुर्भावना ने। भारत से जैसे सच्चा तप

और त्याग निकल चुका था। भगवान राम का आदर्श और भगवान कृष्ण की सर्व-भूत-हित-रक्षण-कामना का लोप होने लगा था। जनमेजय के पश्चात् का प्रागैतिहासिक काल अव्यवस्था का काल था। विश्वात्मा, जगद्विद्यता को यह सह्य नहीं हो सकता था। फलतः इसी समय एक महाक्रांति भारत में हुई। महावीर और बुद्ध के अवतार हुए। इन्होंने परपीड़न, हिंसा, पाखण्ड, अहमन्यता, यज्ञों में पशुबलि पर एक जबरदस्त अगला लगा दी और तब इसके बाद भारत में युग-युग से पराजित, दबी हुई करुणा, जाग्रत हो गई, व्यापक हो गई। न केवल मानव-प्राणी ने किन्तु समस्त प्राणी-जगत ने सुख और शांति की स्वाँस ली। करुणा ने १२०० वर्षों तक भारत में प्राण संचार किया किन्तु विरक्ति और संघर्ष भी पैदा किये। इन्हीं का चित्रांकण हमें प्रसाद के 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख', 'स्कंदगुप्त', 'विक्रमादित्य' और 'राज्य श्री' में मिलता है। इसी ऐतिहासिक काल में हमें भारतीयता की उत्पत्ति, उसकी संस्कृति का प्रौढ़तम रूप, उस संस्कृति का यूनानी संस्कृति से समन्वय देखने को मिलता है। इसी समय विदेशी आक्रमणों और उनकी भ्रांषणताओं का परिचय बौद्ध धर्म की रक्षा के प्रयत्न, वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के विचार और उसके लिए विराट् प्रयत्नों और संघर्षों का प्रादुर्भाव देखने को मिलता है। इसी समय राज-परिवारों और राज-नीति को इन्हीं का खिलवाब होते हुये हम देखते हैं। प्रसाद इसी युग के चित्रांकण में हमें हमारी आज की भारत की मौलिक कमजोरियों का, उन्हें दूर करने का, भारत की 'एक और अखंड' होने की क्षमता का दिग्दर्शन भली-भाँति कराते हैं। इस समय के प्रचुर साहित्य को हृदयंगम कर, अपनी प्रतिभा में निचोड़ कर 'प्रसाद' ने इतिहास को साहित्यिक सुन्दर रूप दिया है। उस युग को साकार, हरय, अमर और प्राणों का संचार करनेवाला बनाया है।

‘अज्ञातशत्रु’ में कोशल, कौशांबी और मगध के राज-परिवारों के अंतर्विद्रोहों का कथानक है। इन्हीं के साथ महात्मा बुद्ध के चरित्र एवं प्रभाव तथा उनके पक्ष व विपक्ष के लिये राज-परिवारों ‘अज्ञातशत्रु’ के आश्रय लेने का चित्रांकण भी गौण रूप में हो गया है। महात्मा बुद्ध के पहिले जो हिंसात्मक प्रवृत्ति जन साधारण में एवं राज-परिवार में पायी जाती थी उसका दिग्दर्शन हमें ‘अज्ञातशत्रु’ के बाल चरित्र में छलना के उसके शिक्षण के समय और वासवी, पद्मावती और विंबसार के कथनों में मिलता है।

‘अज्ञातशत्रु’ अपने चित्रक (सिंह-शावक) के लिए मृग-शावक बुजवाता है। निरीह मृग छूने का मारा जाना, तड़फना शायद उसे प्रसन्नता से भर देता हो। कुणीक का प्रारंभिक चरित्र बौद्ध ग्रंथों में बड़े ही दुष्ट के रूप में अंकित किया गया है। यहाँ भी उसका प्रारंभिक चरित्र इसी रूप में प्रसाद ने रखा है। जान बुझकर इस प्रकार की हिंसा के भाव संतान में, राजकुमारों में उस समय भरे जाते थे। शायद इसीलिये कि उस समय की विचार-प्रणाली यही हो कि किसी राजकुमार “का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।” “निर्बल हाथों से भी क्या कोई राजदंड ग्रहण कर सकता है।” और तब अर्द्धसा “केवल भिक्षुकों की भद्रा सीख थी।” “जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिख मंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म है न्याय, वह दंड के आधार पर है।” राजकुमार अज्ञातशत्रु की क्रूरता उस समय के राजकुमारों की क्रूरता थी। छलना के उपर्युक्त विचार उस काल की राज सत्ता के विचार थे।

किंतु महात्मा गौतम का प्रभाव भी उस समय तक राज परिवारों तक फैल गया था। उन्होंने जो मानवी करुणा का उपदेश दिया था वह

इतना व्यापक हो गया था कि उसके आदेश पर उस समय के कई राजाओं और राजकुमारों ने राज्य-त्याग दिये थे । वे संसार से विरक्त होने लगे थे । राज्य उनके लिए एक बोझ था और यह परिस्थिति हर्ष तक रही । इस करुणा का प्रभाव जन समूह में भी इतना व्यापक और गहरा हो गया था कि शायद इसी कारण भारत निस्सत्त्व, क्रूर शत्रु की शत्रुता का सामना करने के लिये असमर्थ हो गया था । एक चीज, एक सिद्धांत, प्राणी, मानव की भलाई के लिये स्थापित किया जाता है, समय पाकर उसमें भी विकृति पैदा हो जाती है और वह हानिप्रद हो जाता है । गौतम की विचार-धारा का सारांश है, पद्मावती के निम्न कथन में कि “मानवी सृष्टि करुणा के लिये है।” “मेरी समझ में तो मनुष्य होना, राजा होने से अच्छा है ” और बिम्बसार के इस कथन में कि “जीवन की क्षण भंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है ।”

एक ओर अज्ञातशत्रु, छलना, देवदत्त तथा दूसरी ओर बिम्बसार, वासवी और गौतम हैं । एक ओर पूर्व भारत है और दूसरी ओर गौतम के पश्चात का भारत । एक ओर हिंसा और क्रूरता, छल और पाखंड हैं तो दूसरी ओर अहिंसा, करुणा, सत्य और कर्तव्य हैं । इन्हीं असद और सद प्रवृत्तियों का द्वन्द्व, कौशल, कौशांबी और मगध के राज-परिवारों के ग्रह-विग्रह में भी हमें देखने को मिलता है ।

छलना अपने पुत्र अज्ञातशत्रु के लिये मगध का सिंहासन सुरक्षित करना चाहती है । इसलिये वह न केवल महादेवी वासवी एवं उसकी बड़ी पुत्री पद्मावती को ही रुष्ट कर देती है किन्तु अपने पति मगध-राज बिम्बसार को भी रुष्ट और राज्य से विरक्त कर देती है । गौतम का प्रतिद्वन्दी देवदत्त छलना को उत्तेजित करता है और महात्मा गौतम के उपदेशों का प्रभाव वासवी, बिम्बसार और पद्मावती को आकर्षित करता है ।

महाराज बिम्बसार राज्य त्याग कर अलग हो जाते हैं। अज्ञातशत्रु सिंहासनासीन होता है। वासवी उनसे काशी का राज्य-कर प्राप्त करने की सम्मति देकर उन्हें संतुष्ट करती है। क्योंकि उस पर उसके पिता का दिया हुआ होने के कारण उसका अधिकार था। काशी की प्रजा के नाम से काशी का कर अज्ञातशत्रु को न देकर बिम्बसार को दिया जाय इस आशय का पत्र लिखा जाता है। किंतु दूसरी बार युद्ध में अज्ञातशत्रु प्रसेनजित के द्वारा बंदी कर लिया जाता है। छलना को एक ठेस सी लगती है किंतु वासवी के प्रयत्न से अज्ञातशत्रु मुक्त किया जाता है और उसका विवाह प्रसेनजित की कन्या वाजिरा से हो जाता है। वासवी और छलना में पुनः स्नेह भाव हो जाता है। छलना जैसे संभल जाती है। वह वासवी की सज्जनता, स्नेह को पहिचान लेती है। अज्ञातशत्रु भी बाद में पुत्रोत्पत्ति पर पितृ-प्रेम का अनुभव कर बिम्बसार से मिलता है किन्तु वह उसी समय मर जाता है।

इसी कथा के साथ गौतम के विरुद्ध देवदत्त का प्रचार और पद्म्यत्र चला करता है। इसमें गौतम की करुणा, सत्य एवं प्रेम की विजय और देवदत्त के कपट और झूठे प्रचार की पराजय होती है। कोशल और कौशांबी के दो गृह-कलह भी इसी में सम्मिलित हैं। प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक भी अपने पिता का विरोध करता है। शायद अज्ञातशत्रु के आदर्श पर किन्तु इसमें प्रसेनजित का ही दोष और विरुद्धक का नम्र विरोध दिखाई देता है। अज्ञातशत्रु का उदाहरण उसके समक्ष न होता तो शायद उसके विरोध की आवश्यकता नहीं पड़ती। दासीपुत्र होने के कारण उसके पिता का उसके प्रति क्रुद्ध होना असंगत था। उस समय की स्थिति के कारण उसकी माता के परिवार के प्रति उसका कुपित होना उचित था। ऊँच नीच के ये भाव महात्मा गौतम के पहिले बहुत अधिक रूप में प्रचलित थे। इसी प्रकार स्त्रियों के हीन

भाव भी। महात्मा बुद्ध ने इनका बड़े जोरों से विरोध किया था। इसके फल स्वरूप निम्न कोटि के व्यक्तियों और बाद में स्त्रियों के प्रति इस भाव का एक बड़े अंश में उन्मूलन हो गया था। इसी का प्रदर्शन इसके उपकथानक में प्रसादजी ने महात्मा बुद्ध के कहने पर प्रसेनजित द्वारा दासी पुत्र विरुद्धक को राज्य के योग्य समझ कर एवं राज्य दिलवाकर, किया है।

इस प्रकार कौशांबी में भी एक छोटा सा गृह-कलह चलता है। पद्मावती एवं उदयन पर महात्मा बुद्ध के उपदेशों का काफी प्रभाव पड़ा था, किंतु मागंधी उदयन की तीसरी और नवीन रानी यह सहन नहीं कर सकती थी क्योंकि वह अब उदयन के द्वारा भुलाई जा रही थी। उसने वीणा में सर्प का बच्चा रखकर और उसका आरोप पद्मावती पर करवाकर उसकी ओर से उदयन का चित फिरवा दिया था। बाद में सच्ची घटना का पता लग जाने पर मागंधी मंजल में आग लगा कर निकल भागी। सब ने समझा कि मागंधी उसी में जल मरी। मागंधी पहिले गौतम से प्रेम करती थी। किन्तु वह गौतम को आकर्षित नहीं कर सकी थी और इसलिये उनके विरुद्ध हो गया था।

वास्तव में 'अजातशत्रु' में छोटे-छोटे कई कथानक सम्मिलित हो गये हैं जिनका संबंध मूल कथानक से होते हुए भा वे स्वतंत्र से लगते हैं और स्वतंत्र नाटकों के कथानक होने के योग्य थे। किन्तु 'प्रसाद' के एक ही समय के अध्ययन ने उन्हें एक ही सूत्र में पिरो दिया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य ऐतिहासिक काल का सबसे पहला सम्राट् था। इसके पहिले, (चूँकि भारत एक विशाल देश है, रूस को छोड़ कर यूरोप महाद्वीप के बराबर है और जहाँ मनुष्य-भारत का अमर-आदर्श संस्था की दृष्टि से भी उस समय अवश्य घना रहा — 'चन्द्रगुप्त' होगा) भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता थी। वे अपने-अपने राज्यों में

स्वतंत्र थे। इस समय तक विशेष कर भारत के मोटे रूप से दो ही भाग किये जा सकते थे; उत्तरापथ और दक्षिणापथ। उत्तरापथ में तो आर्य राज्य थे ही किंतु दक्षिणापथ में भी आर्य राज्य थे और राम के दक्षिणापथ में गमन और विजय के पश्चात् तो उत्तरापथ में केवल नाम या भेद का ही भेद था। वास्तव में भारत एक और अखंड हो गया था। धर्म संस्कृति, रीति-व्यवहार आदि में यहाँ तक कि भाषा में भी वह एक ही हो रहा था जैसा कि दक्षिण भारत की भाषाओं में संस्कृत शब्दों के मिलने से ज्ञात होता है। इस एकीकरण की भावना का प्रकटीकरण तब होता था जब कोई शक्तिशाली सम्राट् चक्रवर्त्तित्व प्राप्त करना चाहता था अथवा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। उस समय चक्रवर्त्तित्व अथवा साम्राज्यवाद का अर्थ आज के इन्हीं शब्दों के अर्थ से भिन्न था। तब शोषण के लिये, भूमि के लिए साम्राज्य स्थापित नहीं किये जाते थे। उस समय साम्राज्य का अर्थ एक सार्वभौम सत्ता का ही अर्थ रखता था। जिसमें सम्मान या बड़प्पन का ही आदर्श एवं ध्यान रखा जाता था। मांडलिक राज्य प्रायः अपने क्षेत्र में स्वतंत्र और मित्र ही रहते थे। अथवा स्वकन्या का पाणिग्रहण करवा कर संबंधी बन जाते थे। उस समय भी साम्राज्य बनते, बिगड़ते, फिर उठते रहते थे। कभी किसी वंश का प्रभुत्व हो जाता और कभी किसी वंश का। राजाओं का पारस्परिक एवं गृह-कलह के कारण ही ये सब परिवर्तन हुआ करते थे। जन समूह पर इनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था इसलिए वह प्रायः सुखी, स्वतंत्र ही रहता था। हाँ मत, सिद्धांत अथवा धर्म-भेद के कारण अवश्य उसमें विवाद व झगड़े हुआ करते थे। इस समय तक आर्य लोगों को समस्त देश में बसे हुए हजारों वर्ष हो गये थे। वेद, रामायण एवं महाभारत की घटनाएँ हो चुकी थीं। अब बाह्य आक्रमण का डर किसी प्रकार का न था। आर्य और अनार्य अब मिल कर

भारतीय हो चुके थे इसलिये अपने महादेश में, अपने घेरे ही में, अपना प्रभुत्व कायम रखते थे। इसके बाहर का संबंध केवल व्यापारिक था। वे धर्म और संस्कृति भी अपने साथ बाहर ले जाया करते और उनके चिह्न छोड़ आया करते थे। इस समय तक गांधार (सीमा प्रान्त) एवं अफगानिस्तान भी प्रायः भारत की सीमा में सम्मिलित समझ लिये जाते थे। किंतु सिकन्दर के आक्रमण से भारत में एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है।

सिकन्दर के आक्रमण से पाश्चात्य देशों और भारत में सांस्कृतिक, व्यापारिक आदान-प्रदान तो प्रारम्भ हुआ ही किंतु जो भारत अब तक पाश्चात्य वाह्य आक्रमणों से मुक्त था उसका द्वार पाश्चात्यों के लिये खुल गया। अब तक शायद वे लोग भारत पर आक्रमण करना भूलते हुए थे। विभिन्न छोटे-छोटे समूहों में बँटे होने के कारण भारत सदृश, व्यवस्थित, शक्तिशाली, संपन्न महादेश पर आक्रमण करने का उनमें साहस नहीं होगा किंतु सिकन्दर ने इन्हीं छोटे-छोटे समूहों को एकत्रित कर—संघटित कर एक विशाल वाहिनी तैयार करली थी। इन्हीं समूहों की सेना से उसने मेसोडोनिया से भारत के पश्चिमी भाग तक के देशों को विजित, आक्रांत, पद-दलित कर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इन्हीं समूहों को संघटित करने के कारण ही सिकन्दर विजयी, महान् था। सेल्यूकस निकेडार भी सिकन्दर के साथ आया था। उसका एक सेनापति था। सिकन्दर के पश्चात् उसकी जीभ भी भारत पर आक्रमण करने के लिये लप-लपाई। इससे ज्ञात होता है कि सिकन्दर के आक्रमण का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि अब से उस ओर के समूहों को एकत्रित कर भारत पर आक्रमण करने का उनका हौसला हो गया। वे लोग सिकन्दर के आक्रमण से उसकी विजय और सफलता से यह जान गये थे कि भारत पर किस

प्रकार और कैसे आक्रमण किया जा सकता है। सांस्कृतिक, कला संबंधी ज्ञान-विज्ञानादिक का यूनान का भारत पर अथवा भारत का यूनान अथवा पाश्चात्य देशों पर कितना प्रभाव पड़ा इसको मैं अधिक महत्व नहीं देता। यदि हम सूक्ष्म-दृष्टि से इसके बाद के भारत के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि सिकन्दर की विजय ही के कारण बाद में भारत आक्रांत होता रहा। शक, हूण सदृश बर्बर-जातियों ने क्षणिक संघटन, स्वार्थपूर्ण आकांक्षाओं के साथ भी भारत सदृश सभ्य, विशाल, शक्ति-धन-संपन्न, राजनैतिक चालों से परिचित देश को बार-बार हराया, पददलित किया। यही बात मुस्लिम आक्रमणों के संबंध में भी कही जा सकती है। पहिले के संबंध में भारत उन्हें सब प्रकार से शक्ति-संपन्न होने के कारण आत्मसात् कर सका। देशहीन जातियों को देश में स्थान दे सका।

कहने का आशय यह कि हजारों वर्षों से पाश्चात्य आक्रमणों से मुक्त भारत के द्वार खट-खटाने, उन्हें खोलने का उपक्रम यदि किसी ने किया तो सबसे पहिली बार सिकन्दर ने। हमारी कमजोरियों के बीजांकुर इसी महत्व को, उन परिस्थितियों को समझने में हैं। यद्यपि यह सत्य है कि सिकन्दर को भारत में सस्ती विजय नहीं मिली। भारत का एक छोट-सा राजा भी उसकी विजय में बाधक हुआ। उसके छक्के छुड़ा दिये। लौटते समय मालव और क्षत्रियों की सेना ने सिकन्दर को खूब तंग किया। यह सब ऐतिहासिक सत्य है। विजय पराजित हुआ। अपनी कन्या का पाणिग्रहण उसे चन्द्रगुप्त से करना पड़ा। यह भी ऐतिहासिक सत्य है। तब उस गौरवमय हमारी भारतीय स्थिति का हमें पता लगाना, हमारी विजय और पराजय के कारणों को ढूँढ़ना हमारा कर्तव्य हो जाता है। आज की भारत की परिस्थितियाँ, कांग्रेस के प्रति कतिपय स्वार्थ और सम्मान-प्रिय व्यक्तियों का विद्रोह हमें उन और

इन परिस्थितियों पर विचार करने के लिये, हमारी कमजोरियों का अध्ययन करने के लिये बाध्य करता है। भारत का गौरव कैसे बढ़ सकता है, भारत कैसे मुक्त हो सकता है, इन तथ्यों को खोजने का मसाला मिलता है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' इस और भारतीय दृष्टि से दो अमर कृतियाँ हैं जो भारतमय हैं और जिन्हें भारत में व्यापक होना है। तरुणों के समक्ष जाना है। सदा अनवरत रूप से उन्हें कर्तव्य सुझाते रहना है।

वह राम के उच्चतम आदर्श और कृष्ण के महान व्यक्तित्व और राजनीतिपूर्ण मेधा का समय नहीं था। यह तो वह समय था जब महारामा गौतम की करुणा विरक्ति और निस्पृहता भारत में स्थान कर रही थी। ऐसे समय में भी वीर चन्द्रगुप्त की अलौकिक वीरता, कार्य-क्षमता और मेधावी, धुरंधर राजनीतिज्ञ और अर्थ शास्त्री चाणक्य की प्रबंध कुशलता, संघटन-शक्ति भविष्य-संचालन शक्ति और नियति को वशीभूत कर मनोनुकूल चलाने की चेष्टा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। "चन्द्रगुप्त" नाटक का प्रारंभ, निर्वाह और अन्त भारत के गौरव-योग्य हुआ है।

भारत के एक राष्ट्र और उन्नति पथगामी होने के लिये जिस आदर्श की आवश्यकता है, जिस प्रकार की राष्ट्रीय भावना और राजनीति भारत के लिये अनिवार्य है उसका बीज 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में देखने को मिल जाता है और बाद का कथानक इस बीज का वृक्ष-विस्तार है। इसी दृश्य के प्रारंभ में चाणक्य और सिंहरण की बात-चीत उक्त आदर्श को लेकर होती है। वार्तालाप के सिलसिले में ही सिंहरण, चाणक्य से कह देता है, "आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्र-शास्त्र की।" "मुझे तत्त्वज्ञान की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।" वास्तव में उस

समय तक्षशिला गांधार की राजधानी एवं केंद्र थी। वह भारत का खुला द्वार थी जिसकी रक्षा पर भारत का भविष्य निर्भर था। तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखना अनिवार्य था। उस समय साधारण अवस्था नहीं थी। यवनों के दूत गांधार में आ रहे थे। “आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिये प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही थी।” “उत्तरापथ के खंड राज्य द्वेष से जर्जर थे”। “शीघ्र ही भयानक विस्फोट” होने वाला था। गांधार कुमार आग्नीक पौरव से द्वेष के कारण एवं यवनों से धन एवं अधिकार प्राप्ति के कारण भारत के उन्मुक्त द्वार में से यवनों को निकल जाने देने के लिए प्रस्तुत था। इस धन और पारस्परिक द्वेष ने विशेष कर पिछले ने भारत का सदा अपकार ही किया है। आज भी प्रांतीयता ने अपना सिर फिर उठाना आरंभ कर दिया है। स्वाधीनता में यह क्षम्य भी हो जाती है, सह्य भी हो सकती है किन्तु पराधीनता के दूषित वातावरण में हमें अपने इतिहास और साहित्य से शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। इसीलिये चन्द्रगुप्त और सिंहरण मागध और मालव कहकर गौरव प्रकट करना चाहते हैं। मित्रता प्रकट करना चाहते हैं, तब चाणक्य उन्हें प्रबोध देता है, “तुम मालव और यह मागध यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म सम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।” आगे इसी दृश्य में अलका और सिंहरण की बातचीत में इसी आदर्श पर जाते हुए वे (सब पात्र) दिखाई देते हैं। मालव सिंहरण गांधार को भी अपना देश समझता है। गांधारकुमारी अजका भी अपने को आर्यावर्त की बालिका ही समझती है। इसी का विकास समस्त नाटक में किया गया है।

चाणक्य के प्रयत्न प्रारंभ से ही भारत को एक अखंड राष्ट्र मान कर होते हैं। भारत की नियति को या कहना चाहिये उसकी आन्तरिक

कमजोरियों को चाणक्य समझता था। वह यह भी जानता था कि भारत जो वास्तव में एक ही राष्ट्र आंतरिक दृष्टि से है इसमें इतनी भिन्नता क्यों है? उसका क्या कारण है? वह कैसे दूर की जा सकती है? उसका अनुभव, उसकी समय की तर्कों में से प्रवेश करनेवाली पैनी बुद्धि खूब यह जानती थी कि भारत को केवल एक सुशासन की ही आवश्यकता नहीं थी किन्तु एक सुदृढ़ शासन की भी आवश्यकता थी और इसीलिये उसके सब प्रयत्न इसी एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुए। वह चन्द्रगुप्त का राज्य उसकी सूक्ष्म दृष्टि के कारण इतना सुदृढ़ कर सका कि मौर्यवंश के अधिकार में चन्द्रगुप्त के पश्चात् भी लगभग १००० वर्षों तक राज-सत्ता बनी रही। हाँ साम्राज्यवादिता का जो अर्थ आज हम करते हैं साम्राज्य स्थापित करके भी वह उससे दूर और निष्पृह रहा। वह यह जानता था कि यवन तो केवल एक संघटन या गुट बना लेने से ही साम्राज्य बना रहे हैं। सफलता प्राप्त कर रहे हैं और सुसभ्य, सुसंस्कृत, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल में दक्ष, राम और कृष्ण की जन्म भूमि के निवासी, गोता ज्ञान से मार्जित, महाभारत सदृश राजनीतिक बारीकियों से भरे हुए ग्रंथ के स्वामी उस समय पारस्परिक द्वेष से जर्जरित हो रहे थे। राष्ट्र का ध्यान छोड़कर व्यक्तियों और व्यक्तिगत स्वार्थों सिद्धांतों को महत्व दे रहे थे। स्वमानापमान को सर्वोपरि समझ रहे थे। २० वर्षों से कांग्रेस के सतत् प्रयत्नों के पश्चात् फिर देश में भी इन्हीं व्यक्तियों का महत्व अकारण बढ़ा रहा है। राष्ट्र के लिये, भारत के लिये प्रांतों को झुकना चाहिये, प्रांतों के लिये जिलों को, व्यक्तियों को दबना चाहिये। शासक चाहे जितना निष्पक्ष, अच्छा, न्यायी ही क्यों न हो, निष्कपट-शासन योग्यता संपन्न ही क्यों न हो, कुछ व्यक्ति ऐसे रह ही जाते हैं जिन्हें किसी न किसी प्रकार की शिकायत रहती है फिर शासक चाहे वे ही शिकायत करनेवाले क्यों न रहे हों। तब

हमें राष्ट्र को ही क्यों न सुदृढ़ बनाना चाहिये और हमें भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता, सुशासन, उन्नति, गौरव के लिये, विश्व बन्धुत्व के लिये, भारत के केंद्रीय शासन को सुदृढ़ बनाना होगा चाहे व्यक्तिगत स्वार्थों को, प्रान्तों को भुक्कना ही क्यों न पड़े। प्रसाद ने हमारे उस गौरव-शाली इतिहास का जब भारत स्वतंत्र था, नियामक था, घटनाओं को इच्छानुकूल चलाने में समर्थ था, स्वतंत्ररूप से संधि और युद्ध करता था, अपने भाग्याभाग्य का स्वयं निर्णायक था अध्ययन कर हमारे समक्ष हमारा भविष्य, भारत का भविष्य बड़े ही उज्ज्वल रूपमें चिन्तन के साथ रखा है।

उन्होंने चंद्रगुप्त में घटनाओं का प्रारम्भ भी ऐसे ही महत्वपूर्ण समय और स्थिति को लेकर किया है। प्रथम दृश्य के पश्चात् ही हम चाणक्य को मगध पहुँच कर यही प्रयत्न करते देखते हैं। प्रजा-विरोधी विलापी नंद को वह तत्कालीन परिस्थिति से भारत पर सिकंदर के होनेवाले आक्रमण से भारत की रक्षा के लिये उद्यत करना चाहता है। वह चाहता है मगध पर्वतेश्वर से मिल कर सिकंदर का अवरोध करे। अपने घर में भले ही चाहे लड़ लें किंतु विदेशी के सामने हम एक हैं। पार्श्वस्थ यूरोपीय राष्ट्रों ने इसी तत्व को अपना कर संसार पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली है। गोरी और अगोरी जातियों के संबंध में भी ये गोरी जातियें मिल जाती हैं। ऐसा उस समय भी हुआ था। चाणक्य ने हर्षालिये मगध से पर्वतेश्वर की सहायता, द्वेष-भाव उस समय तो त्याग कर, करने को कहा। उसने नंद को मगध का कर्तव्य सुझाया था कि “यवनों की विकट वाहिनी निषध पर्वतमाला तक पहुँच गई है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसंधि है। संभवतः समस्त आर्यावर्त पादाक्रांत होगा। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतंत्र हैं, वे उस सगमजित पारसीक यवन बल को रोकने में असमर्थ होंगे। अकेले पर्व-

तेश्वर ने साहस किया है, इसलिये मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करना चाहिये ।” उसने पर्वतेश्वर को समझाया था कि पहिले यदि तुम मगध विजय करने में चन्द्रगुप्त की सहायता करो तो मगध की लक्षाधिक सेना आगामी यवन युद्ध में पौरव पर्वतेश्वर की पताका के नीचे युद्ध करेगी । किंतु उसने ध्यान नहीं दिया और उसे पर्वतेश्वर को निराश होकर चेतावनी देनी पड़ी । “स्मरण रखना आसन्न यवन युद्ध में शौर्य गर्व से तुम पराभूत होगे । यवनों के द्वारा समस्त आर्यावर्त पादाक्रांत होगा ।”

चाणक्य ने एक बार पुनः प्रयत्न किया कि पर्वतेश्वर उसकी सम्मति से लाभ उठावे । उसने चंद्रगुप्त के साथ उसे संपेरा बना कर पर्वतेश्वर को समझाया कि सैन्य-संचालन किस प्रकार करना चाहिये । किंतु भारत में तो शायद यही होता आया है । उसको सम्मति की ओर फिर अवहेलना की गई । (तृतीय पानीपत युद्ध के समय भी महादजी सिंधिया की सम्मति की अवहेलना कर भारत पर महान् अपकार किया गया था) आखिर वही हुआ जो चाणक्य की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति ने सोचा था । पर्वतेश्वर की हार हुई । सिकन्दर विजयी हुआ । उसके राजनीतिक कौशल से भारत में सिकंदर की दुर्दशा हुई । चंद्रगुप्त सम्राट् हुआ । उसके शत्रुओं का हास हुआ । वह एक सुदृढ़ शासन स्थापित कर सका । चंद्रगुप्त और सिंहरण का मैत्री-भाव भी भारत के लिये आदर्श रहा ।

‘विशाख’ का कथानक जिस समय का चित्रण करता है वह भारत का वह काल था जब सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म को न केवल भारत-व्यापी बना सके थे किंतु चीन, श्याम, लंका आदि सुदूर ‘विशाख’ देशों तक पहुँचा चुके थे । सम्राट् अशोक ही प्रथम सम्राट् थे जिन्होंने बौद्ध-धर्म को पूर्णतया राज्याश्रय ही नहीं दिया

उसकी अप्रतिम, उन्नति, वृद्धि और प्रचार किया। इसके पहिले वह अन्य धर्मों के समान ही एक सिद्धांत, दार्शनिकता की एक विशिष्ट विचार-धारा थी जिसके अनुयायियों की संख्या बढ़ गई थी। राजा, महाराजा जिसे अपना चुके थे और जन-साधारण में भी जो फैल तो अवश्य गया था किंतु मिटा नहीं था, पनप रहा था। बढ़ रहा था किंतु व्यापक नहीं बना था।

अशोक के पश्चात् तो उत्तर से सुदूर दक्षिण तक, पश्चिम से पूर्व तक भारत बौद्धमय हो गया था। अब तक जब तक कि उसकी इतनी वृद्धि नहीं थी अन्य सिद्धांतों के समान उसके भी सिद्धांतों का विस्तृत विरोध नहीं हुआ था किंतु अब अत्यधिक वृद्धि और राज्याश्रय के कारण उसके प्रति उसकी उन्नति, वृद्धि और प्रचार के प्रति एक प्रतिक्रिया भी भीतर-भीतर जाग्रत हो रही थी। विद्वेष और कटुता बढ़ गई थी। उसके विरोध, हास, उन्मूलन के लिये चेष्टाएँ प्रारम्भ हो गई थीं। और आगे जाकर उसका इतना प्रबल विरोध हुआ कि उसे अपने जन्म स्थान भारत से ही लोप होना पड़ा।

विम्बसार चंद्रगुप्त आदि अशोक के प्रथम के सम्राट् अथवा राजागण काफी उदार होते रहे क्योंकि हम देखते हैं कि उन्हें जैन, बौद्ध भी उनके सिद्धांतों से सहानुभूति होने के कारण अपनी ओर खींचते रहे हैं। वास्तव में उनका केवल एक राज-धर्म ही धर्म था। किंतु बाद के सम्राटों में—अशोक से लेकर हर्ष के पहिले तक उनमें किसी भी धर्म का एकांगीपन था। धर्म के बाह्य रूप की दृष्टि से यद्यपि बौद्ध निराशावाद अवश्य फैल गया था, बस गया था। हृदय और मस्तिष्क पर भी अपना अधिकार जमा चुका था। आगे इसीलिये बौद्ध-धर्म को अपनाने के कारण ही हर्ष का इतना साहस नहीं हुआ कि वह भारतीय धर्मों शैव या वैष्णव आदि का विरोध कर सके। उसके समय में ही यह विरोध

सीमा तक पहुँच गया था। उसके बाद शीघ्र ही शंकर ने सब उपायों से इसका उन्मूलन कर दिया। जैन, बौद्ध और इनका विरोधी साहित्य फिर एक विशिष्ट दार्शनिक विचार-धारा न होकर एक खंडन-मंडनात्मक, प्रचारात्मक साहित्य हो गया और इस समय का साहित्य अपने मूल रूप में इसलिये उतना विश्वस्त नहीं है। वह चाहे किसी भी पक्ष का हो। किसी एक ही पक्ष को दोष देना न्याय संगत नहीं हो सकता।

अशोक के पश्चात् एक बात और देखने को मिलती है। वह यह कि गुप्त सम्राटों तक यहाँ का शासन दृढ़ और व्यवस्थित नहीं रहा था यद्यपि हम कनिष्क, हुविष्क आदि सम्राटों को भारत के उत्तर में एकच्छत्र शासनाधिकार प्राप्त किये हुए और शायद जनता में बौद्ध-धर्म के प्रचार होने के कारण बौद्ध-धर्म को अपनाते हुए देखते हैं। अतएव हमें 'विशाख' में इतिहास की दृष्टि से कोई विशेष बात देखने को नहीं मिलती। केवल उस समय के इतिहास के इतने अंश पर प्रकाश पड़ता है कि अब बौद्धमठों की स्थापना और वृद्धि जगह-जगह हो गई थी। कई प्राचीन धर्म अथवा अन्य राजकीय स्थानों पर बौद्ध-महन्तों का अधिकार था। वे धन और प्रभुता के भोगी होकर संसार से विरक्त नहीं रहे थे। विलासी और राजनीति में यह या वह पक्ष ग्रहण करनेवाले हो चले थे। इसका क्षणिक आभास 'चन्द्रगुप्त' में भी प्रसाद ने दिया है जब सुवासिनी राजस से राज्यचक्र में बौद्ध धर्म के समर्थन करने का आश्वासन लेती है। 'विशाख' में भी ऐसे ही एक बौद्ध-महन्त, एक विलासी पर स्त्री-गामी अधिपति और तरुणार्ई से आकर्षित एक युवक के प्रयत्नों को हम देखते हैं। भारत की उस दशा में ऐसे ही व्यक्ति तो पाये जा सकते थे।

— 'स्कन्दगुप्त' इतिहास, राष्ट्रीयता और भारतीय भावना का प्रतीक है जिसमें 'गुप्तकाल', जो इतिहास में 'स्वर्ण-युग' के नाम से प्रसिद्ध है,

का प्रतिनिधित्व, गुप्तसम्राटों के भारत स्वातंत्र्य-रक्षण भारतीयता का के प्रबल प्रयत्नों का चित्रण है। उनकी आशा-निराशा, प्रतिनिधि-‘स्कंदगुप्त’ उनके गुण दोष, उनके पराक्रम-पराजय, उनके संघटन और विघटन का यथार्थ मार्मिक चित्र है जिसमें हमें आज और आगे भी युगों तक हमारा आदर्श-पथ-प्रदर्शन और प्रेरणा मिलती रहेगी। पराधीनता में हमारे भाव क्या हों, कैसे हम युद्ध के समय पारस्परिक द्वेषों को भुला दें और स्वतंत्रता में आने राष्ट्र की रक्षा किस प्रकार करें, किस प्रकार अपने सम्मान को सुरक्षित रखें, किस प्रकार गृह-कलहों, वैयक्तिक द्वेषों और स्वार्थों तथा प्रांतीयता की कटुता को नीचे, दूर रखें इसका विस्तार पूर्वक दिग्दर्शन हमें हमारे इस अमर राष्ट्रीय नाटक में मिलता है।

“स्कन्दगुप्त” की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर एवं उसके द्वारा पहुँचे हुए निष्कर्षों पर जिनमें से भारत आज गुजर रहा है, सदा गुजरता रहा है और शायद भविष्य में भी गुजरता रहेगा विचार करने के पूर्व न केवल इसी नाटक पर एवं प्रसाद के अन्य नाटकों पर भी विचार करने योग्य एक बात रह जाती है। वह यह कि नाटक-लेखक, कलाकार, कवि आदि इतिहास से कितनी और कैसी सामग्री प्राप्त करें। कई आलोचकों का कहना है कि ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करते समय एवं पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उन्हें बड़ा सतर्क और सावधान रहना चाहिये। यहाँ तक तो यह बात हमें मान्य है, किन्तु इससे बढ़कर जब वही आलोचक इतिहास के आधार पर किसी साहित्यिक रचना में खाल की खाल निकालना चाहता है या विवादास्पद विषयों पर अपने अनुसार घटनाओं अथवा पात्रों का चित्रण किसी कलाकार में देखना चाहता है तब उसकी यह प्रवृत्ति न्यायसंगत नहीं रही जा सकती। मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि कोई लेखक यदि ऐतिहासिक

रचनाएँ लिखना चाहता है तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि उस संबंध में वह काफी अध्ययन करे, उनका अपनी कल्पना से समन्वय करवावे और तबसतर्क और सावधान होकर अपनी लेखनी का उपयोग करे। यदि वह यह करता है तो दोषी नहीं है। उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। प्रसाद ने विरोध रूप से अपने इस कर्तव्य का पालन जहाँ तक किया जा सकता था किया है। किंतु प्रसाद से अथवा अन्य लेखक से हमें यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि वह साहित्यिक, ललित कलाओं के लिये पहिले अपना जीवन ऐतिहासिक तथ्यों की छान-बीन में लगावे और फिर शायद दूसरे जीवन में रचना करे। उसका तो एक ही जीवन होता है। जिसमें वह उसकी रुचि यदि ऐतिहासिक रचनाओं की ओर होती है तो वह अपने मनोनुकूल कल्पना के अनुसार इतिहास में से आधार ढूँढता रहता है। सर्व सम्मत विद्वानों के आधार पर बहुधा वह चलना चाहता है। किंतु सर्व सम्मत आधार उसे कम ही मिलता है क्योंकि ऐतिहासिक छान-बीन का क्रम चला ही करता है और चला ही करेगा। तब तक के लिये वह ठहर नहीं सकता। समय की गति पर, खोजों के होने पर प्रायः प्राचीन सिद्धांत, तत्व, घटनाएँ उनके प्रमाण आदि में नित्यशः अन्तर होता रहता है। कुछ बातें, तत्व, सामग्री समय के स्तरों के अन्दर दबती जाती हैं और कुछ अन्य नवीन उपर निकलती रहती हैं। नये सिद्धान्त, नये प्रमाण पुराने होते हैं और उनका स्थान फिर अन्य सिद्धांत, विचार, प्रमाण ले लेते हैं और ऐसा अनादिकाल से होता आया है और होता रहेगा। तब एक रचनाकार ऐसी परिस्थिति में क्या करे? क्या वह ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय तक ठहरा रहे अथवा ऐतिहासिक नाटक, उपन्यास आदि लिखे ही नहीं। यह संभव नहीं। वह तब तक के लिये ठहर नहीं सकता। साहित्यिक कलात्मक प्रवृत्ति की प्रगति रुकी नहीं रह सकती। अतएव इस

प्रकार की रचनाओं में विचारणीय विषय यह है कि ऐतिहासिक तथ्य जो लेखक ने अपने मस्तिष्क में अंकित कर लिये हैं उनके अनुसार वह अपने को व्यक्त कर पाया है या नहीं। उसका कार्य तो इतिहास में से जीवन की प्राप्ति और उसका चित्रण है। प्रसाद ने यही पूर्णता के साथ किया है।

अतएव प्रसादजी की भी रचनाओं पर विचार करते समय प्रसादजी को अथवा इसी प्रकार के अन्य लेखकों को इसी कसौटी पर आलोचक को कसना चाहिए कि इस विशिष्ट दिशा में वह इतिहासज्ञ नहीं हो सकता बल्कि प्राप्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ही जो उसकी पहुँच के अन्दर होते हैं उसने ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग ईमानदारी से किया है अथवा नहीं और इसके द्वारा वह सामर्थ्य पूर्वक और पूर्ण रूप से अपने को व्यक्त कर पाया है या नहीं। साहित्यिक रचनाओं पर प्रधानतः साहित्यिक दृष्टि से ही विचार करना योग्य है। (भारतेंदु बाबू की ऐतिहासिक सामग्री में भी आज की खोजों के अनुसार कई त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। प्रसाद में भी नवीन खोजों के अनुसार ऐतिहासिक पात्रों के संबंध में कतिपय बातें विरुद्ध पड़ें। किंतु हमसे किसी ऐतिहासिक नाटकादि लेखक की रचनाओं पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार से सोचनेवालों ने कालिदास आदि में भी गुण दोषों की उद्भावना की है। मेरे तो न केवल ऐतिहासिक तथ्यों या प्रमाणों पर ये विचार हैं किंतु मैं तो समय की अवधि के संबंध में भी यही विचार रखता हूँ। कलाकार समय की अवधि से भी उतना बँधा हुआ नहीं है। जैसे 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अवधि अवश्य वेहद बढ़ गई है, किंतु पाठक या रस की अनुभूति करनेवाला ऐतिहासिक सूक्ष्म तत्वों एवं समय की अवधि को लेकर नहीं बैठाता। उसके समक्ष कलाकार की रचना ही रहती है। उसी काल की घटनाएँ इधर उधर फेरफार से प्रयुक्त

की जा सकती हैं। हाँ इनना अवश्य है कि ऐसा न हो पावे कि पहले के व्यक्ति पाछे और पीछे के व्यक्ति पहिले दिखाये जावें। कलाकार पहिले कलाकार होता है न कि इतिहासज्ञ या अन्य।

अतएव प्रसादजी ने भी पूर्ण सच्चाई के साथ प्राप्त और स्व खोज और अध्ययन पर अवलंबित ऐतिहासिक तथ्यों, प्रमाणों एवं घटनाओं अथवा वर्णनों का उपयोग किया है। उन्हें कुछ कहना है। उनकी अपनी एक विचार-धारा है। उनकी अपनी कल्पना, कला और सौंदर्य की भावना है। उनकी स्वानुभूति, दार्शनिकता है। जीवन की आध्यात्मिकता है। और चूँकि उनके मस्तिष्क का प्रवाह, पथ, मुकाव, धारा इतिहास की ओर थी, उनकी वृत्ति ईतिहास में रंग गई थी, विशेष कर भारत के गौरव मय स्वातंत्र्य-युग में, बौद्ध-काल में इसलिये उन्होंने अपनी कल्पना, कला, विचार-धारा के अनुरूप पात्र इतिहास में से चुने हैं। उस काल की, युग की मूल-भावना को व्यक्त किया है। उनके अध्ययन से उस काल के इतिहास की, उस काल के जीवन की, मूल-भावना की, संघर्षों की, उनके हृदय और मस्तिष्क पर गहरी छाप अंकित हो गई है। उन्होंने अपने हृदय की आँखों से उस काल के जीवन को देख कर मस्तिष्क के द्वार से कल्पना रानी को उसे समर्पित किया है। इसलिये उनके ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करते समय यह देखने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से क्या खोज की या किन प्रमाणों, तथ्यों का उपयोग किया। हमें तो यह देखना है कि उनके मस्तिष्क पर जो अंकित हो गया था वह कैसा है? उनकी रचनाओं में वह कैसा व्यक्त हुआ है। उसमें युग की भावना किस प्रकार मिल गई है; (अर्थात् भूत का आज से, हमारे युग से उन्होंने किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया है?) उसमें स्थायीत्व अथवा अमरत्व है या नहीं? हमारा यही विचारणीय दृष्टिकोण होना चाहिये।

‘चन्द्रगुप्त’ के समान ‘स्कंदगुप्त’ का प्रथम दृश्य भी नाटक की वह पृष्ठ भूमि है जिस पर उसका सारा ढाँचा खड़ा होता है। प्रारम्भ में ही स्कंद और पर्णगुप्त के कथोपकथन में ही वह आभास मिलने लगता है जिसका अंकित करना प्रसादजी को अभीष्ट है। बाद का कथानक इसी का विस्तार, वृद्धि और विकास है। मगधकुमार स्कंदगुप्त मगध के महानायक वृद्ध और कई युद्धों के विजेता पर्णदत्त जिनकी “वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोख लहरियों से लिखी जाती” थी—की सराहना करते हैं। किंतु उन्हें अपने पर अविश्वास है। अविश्वास है क्योंकि वह वीर देखता है कि स्कंद सदृश वीर, स्वदेश गौरव के रक्षक कुमार में भी अपने “अधिकारों के प्रति उदासीनता” अपना घर बना रही है। वह देखता है कि “गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक (युवराज स्कंदगुप्त) को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।” स्वामीभक्त पर्णदत्त को यही बात खलती है और वह इसलिये स्कंदगुप्त को इस सीमा तक उत्तेजित करता है। “राष्ट्र नीति दाशनिक और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य के उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ, उसका दायित्व भी बढ़ गया है पर, उस बोझ को उठाने के लिये गुप्त कुल शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य लक्ष्मी को वे अब अनायास और अपने शरण आनेवाली वस्तु समझने लगे हैं।”

कतिपय आज के तरुण भी राष्ट्र-नीति को दार्शनिकता आदि की वाक्यावली के अन्तर्गत और कल्पना का लोक समझ रहे हैं।

इस प्रकार वे स्कंदगुप्त को इतना उत्तेजित कर देते हैं कि वह मालव-रक्षा के हेतु एवं युद्ध के लिये कटिवद्ध हो जाता है।

यह उज्जयिनी के गुप्त साम्राज्य के स्कंधावार को घटना थी उधर मगध का यह हाल था कि मगध सम्राट् कुमारगुप्त पेश आराम, विलास और निश्चितता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनकी दो रानियाँ थीं। देवकी बड़ी और कुमार स्कंदगुप्त की माता थीं। दूसरी अनंत देवी छोटी। किंतु महत्वाकांक्षिणी प्रौढ़ वयस्का रानी थी। उसका पुत्र पुरगुप्त था। और वह उसके प्रयत्नों से बनाये हुए नवीन महाबलाधिकृत भटार्क से मिलकर पड्यंत्र-द्वारा महाराज कुमारगुप्त और देवकी का अंत कर पुरगुप्त को मगध के सिंहासन पर अधिष्ठित करना चाहती थी। महाबलाधिकृत बनाये जाने एवं कतिपय अस्पष्ट कारणों से भटार्क सब प्रकार से अपने को अनंतदेवी के वशीभूत समझना और उसकी सहायता करना चाहता था। शायद उस पर “विद्रूप और व्यंग बाणों के बरसाये जाने के कारण वह भावी विप्लव में उसकी सहायता का आश्वासन देता है। साथ ही प्रपंचबुद्धि का भी जो “क्रूर कठोर नर-पिशाच” बौद्ध कापालिक था, आतंक उस पर छा जाता है।

अनन्त देवी का पड्यंत्र सफल होता है। किसी प्रकार सम्राट् कुमारगुप्त का निधन कराया जाता है। इसका एवं उसकी बीमारी का पता तक नहीं लग पाता है। देवकी तक से यह बात छिपाई जाती है। उसके तथा अन्य लोगों के सम्राट् के शव के पास जाने तक की मनाई रहती है। देवकी पर पहरा बैठ जाता है। मंत्री कुमारामात्य पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक इस संबंध में भटार्क, पुरगुप्त आदि से जानना चाहते हैं। उन्हें सूचित किया जाता है कि सम्राट् का निधन हो गया है और युवराज पुरगुप्त को उनके स्थान पर वे सम्राट् घोषित कर गये हैं (युवराज स्कन्दगुप्त के निष्पक्ष, न्यायी पक्ष-कर्त्ता महाप्रतिहार और दण्डनायक तो उनका तीव्र सशस्त्र विरोध करने के लिये तैयार हो जाते हैं किंतु पृथ्वीसेन ऐसे संकट के समय गृह-विद्रोह बढ़ाना उचित

न समझ कर आत्मबध कर डालता है और इसी प्रकार बाद में महा-प्रतिहार और दण्डनायक भी । ❀

इधर स्कंदगुप्त की सहायता से मालव की शक हूण आपत्ति दूर होती है । स्कंदगुप्त को समाचार मिलता है कि उसके पिता सम्राट् पुरगुप्त का निधन हो गया है, किंतु इससे जैसे उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । वह साम्राज्य के लिये झगड़ने की अपेक्षा एकाकी जीवन व्यतीत करना ही अपने मनोनुकूल बात पाता है ।

उधर प्रपंचबुद्धि भटार्क और अनन्त देवी देवकी को मारने के लिये शर्बनाग को धन और पद का लोभ देकर प्रस्तुत करते हैं । उसे मदिरा पर मदिरा पिला कर उसकी बुद्धि भ्रष्ट की जाती है । बंदीगृह में देवकी के वध के लिए सब पहुँचते हैं । अनन्त देवी भी वहाँ पहुँच कर देवकी को अमानित और दुखी करना चाहती है । देवकी साहस पूर्वक स्कंदगुप्त को देखने की साध लिये मरने के लिये तैयार हो जाती है किंतु ठीक समय पर स्कंदगुप्त के पहुँचने पर उनका षड्यंत्र अफल होता है । अनंतदेवी “मैं तुम्हारे पिता की पत्नि हूँ” कहकर अपने को बचाती है । भटार्क लड़कर घायल होता है । इसके पहिले उसका अनावश्यक यह कहना कि “वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये” कुछ अर्थ नहीं रखता । स्कंदगुप्त पुनः पुरगुप्त को ही त्याग-पूर्वक सिंहासनासीन कर यह आशा करता है कि उसके इस त्याग और क्षमा का परिणाम यह निकले कि वे पुनः षड्यंत्र और भारत राष्ट्र का अहित न करें । यहीं बन्धु वर्मा और भीम वर्मा का त्याग देखते ही बनता है वे भारत राष्ट्र के कल्याण के लिये अपना राज्य सहर्ष, उच्च

❀ युरोपियन राष्ट्रों में शासन परिवर्तन के समय भी ऐसी ही घटनाएँ देखने को मिलती हैं । स्वतंत्र-भारत की इन घटनाओं में कितना साम्य है । इनसे हमें शिक्षा ग्रहण करना चाहिये ।

त्याग का आदर्श उपस्थित करते हुए स्कन्दगुप्त को सप्रेम समर्पित कर देते हैं। भारत के उपराष्ट्रों की यह भावना प्रशंसनीय, श्रेयस्कर आदर्श एवं भारत-कल्याण प्रद है।

प्रत्येक माता अपनी संतान से क्या आशा रखती है इसका आदर्श भटार्क की माँ में देखने को मिलता है। उसकी माता को उसके कृत्य पर दुःख और चोभ होता है। उसने एक माँ के समान भटार्क से, एक भारत पुत्र से, आशा की थी कि "वह देश का सेवक होगा, श्लेच्छों से पद दलित भारत भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा; मेरा सिर ऊँचा होगा कि मेरा पुत्र स्वदेश का अनन्य सेवक और सैनिक है"। किंतु उसका बही पुत्र "देश द्रोही" राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया।"

माता ने पुत्र को धिक्कारा। पुत्र में कुछ ज्ञान बोध हुआ किंतु क्षणिक। उसने स्कन्द की सहायता करना राष्ट्र-सेवा का व्रत लेना स्वीकार किया किंतु उसकी आत्मा इतनी परिष्कृत नहीं हुई थी कि वह अपनी माता के आदर्श की ओर अप्रसर होता।

अब कथानक का क्रम पुनः उज्जयिनी की ओर पहुँचता है। कमला भटार्क की माता भटार्क को लेकर उज्जयिनी पहुँचती है ताकि भटार्क को स्कन्दगुप्त की ही शरण में सौंप दे। यहाँ पहुँचकर उनकी विजया से भेंट होती है जो पहिले स्कन्दगुप्त की ओर आकर्षित हो गई थी। किंतु बन्धु वर्मा के राज्य स्कंद को सौंपने पर अकारण वह सोचने लगी कि अब स्कन्दगुप्त का देवसेना से प्रेम और परिणय हो जायगा। और उसके तुच्छ हृदय में जैसा प्रायः स्त्रियों में मानव-पकृति वश हुआ करता है इसकी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। वह भटार्क की ओर खिंच गई। मगध पहुँचकर स्कंद के विरुद्ध षड्यंत्र में सहायक और पुरगुप्त के बिभारस की सहयोगिनी बनने लगी।

उज्जयिनी में कमला और भटार्क से बात करती हुई विजया और वे बन्दी बनाये जाते हैं। स्कन्दगुप्त के सामने जो अब मालव का शासक है, वे उपस्थित होते हैं। साध्वी देवकी की सहायिका रामा के कारण उसका पति शर्वनाग जमा ही नहीं किया जाता बल्कि देवकी के आदेश पर एक प्रांत का विषय-पति बना दिया जाता है। कमला की महत्ता के कारण भटार्क भी जमा किया जाता है।

दुरात्मा प्रपंच बुद्धि को जो “क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एकबार सद्बुद्धि के उठाने की आकांक्षा” रखता था इस पड़्यत्र के विफल होने से घोर निराशा हो जाती है। पुरगुप्त और अनन्तदेवी से निराश हो कर वह उज्जयिनी आ जाता है। दुर्बल आत्मा भटार्क को पुनः पतित करता है। विजया की सहायता से अकारण ‘उग्रतारा’ की साधना के लिए देवसेना के वध का प्रपंच रचता है। विजया देवसेना को शमशान तक खींच लाती है। किंतु फिर भी असफल होता है। मानुगुप्त और स्कन्दगुप्त यथा समय वहाँ पहुँच जाते हैं।

हूणों को सदा के लिये भारत से दूर करने के लिये तैयारी होनी है। स्कन्दगुप्त भारत के सब उपराष्ट्रों को आह्वान करता है। मगध को भी। किन्तु मगध तो उत्कोच ले चुका था। स्कन्दगुप्त को फिर अनन्तदेवी और भटार्क मिलकर धोखा देना चाहते थे। मगध विलासिता में ही निमग्न रहना चाहता था। वह निष्क्रिय था। जिस समय स्कन्दगुप्त भारत की रक्षा जी-जान से करनेवाला था उसी समय उसे धोखा देने का उपक्रम हो रहा था।

इस समय में गुप्त-रक्त पुरगुप्त के हृदय में “विजय पर विजय ! देखता हूँ कि एक बार वज्र तट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फिर फहरायगी। गरुड-ध्वज वज्र के रेतीले मैदान में स्वर्ण प्रभा का विस्तार करेगा。” इस

भाव से होनेवाली प्रसन्नता उसके निष्कलुप हृदय की सरलता प्रकट करती है जिससे यह ज्ञात होता है कि अनन्त देवी सहस्र महत्वाकाँक्षिणी माता के प्रभाव में होता हुआ भी उसका हृदय सद्भावना के लिये स्थान दे सकता था ।

इसी स्थल पर एक सैनिक का पद त्याग भी प्रशंसनीय है। उसे इस बात का दुःख है कि "यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नामकी विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है जैसे कुल-वधु को छोड़ कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में !) देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद । जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है । आह ! जिस मगध देश की सेना सदैव नासीर में रहती थी । आर्य चन्द्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमंत्रण पाने पर साम्राज्य सेना में जाय ।" उसने महावलाधिकृत विश्वासघाती भटार्क से स्पष्ट यह कह दिया । परिणाम यह निकला कि उसे मगध में रहने की ही आज्ञा मिली क्योंकि भटार्क सोचता था कि यदि ऐसे सैनिक युद्ध क्षेत्र में पहुँचेंगे तो अवश्य लड़ेंगे । निष्क्रिय नहीं रह सकेंगे किंतु सैनिक ने वृत्ति छोड़ना स्वीकार कर लिया । प्रसादजी की प्रतिभा और स्वदेश भक्ति सूक्ष्म राजनीतिक तत्त्वों को पहिचान ने की कुशाम् बुद्धि यहाँ भी प्रकट करती है ।

यही हुआ । गांधार की घाटी में, कुम्भा केरण-क्षेत्र पर भटार्क के विश्वासघात का परिणाम यही हुआ कि मिली मिलाई विजय रह गई । सेना तितर-बितर हो गई । शंभु वर्मा का बलिदान निष्फल गया । स्कन्दगुप्त भी कहीं का कहीं बह गया । ❀)

❀ भारत में महारमाजी के २० वर्षों के प्रयत्नों के पश्चात् पुनः इसी नदी में हमारा प्रान्तीयता का पोषक, अहमन्यता का निर्देशक बड़ा नेता कहलानेवाला व्यक्ति इस विध्वंश विभूति को उसी नदी में बहाना चाहता

यही उस समय हुआ था। राष्ट्र की सब शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गई थीं। मालव राजवन्धु वर्मा का युद्ध-क्षेत्र में निधन हो गया था। पुत्र शोक के कारण देवकी का भी प्राणान्त हो गया था। स्कंदगुप्त का पता नहीं था। पर्णगुप्त देवसेना को लिये एक पर्णकूटी में लकड़ी बीन कर, और देवसेना लोगों को गाने सुना कर, भिन्ना माँग कर, लोगों के नेत्रबाण और वाग्वाणों को सह कर किसी प्रकार अपने दिन निकाल रहे थे। आज भी हम निराशामय परिस्थिति को पहुँच रहे हैं, पहुँचाये जा रहे हैं। जन-मनोवृत्ति का अनुचित लाभ उठाकर गिराये जा रहे हैं। उस समय की बिखरी हुई, विश्वासघात की शिकार हुई शक्तिएँ देश में बिखर कर भविष्य के लिए मार्ग परिष्कृत करने लगीं। भारत का भविष्य यही दिखाई दे रहा है। ❀

देश अपनी कृति के दुष्परिणाम को देख चुका था। बौद्ध साधु त्यागशील विचारक प्रख्यात कीर्ति भी समझ गये थे। उनके पिछले हैं। वह तो बचेगा ही। भारत को स्वतंत्रता तो मिलेगी ही किंतु हमारे तरुणों के द्वारा अविवेक और अज्ञान से बिना समझे जो कुचेष्टाएँ चल रही हैं ये स्वतंत्रता प्राप्ति की अवधि को अवश्य बढ़ा रही हैं। आज हमारी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न की जा रही हैं।

❀ कतिपय ऐसे जननायक निराश होकर अपनी शक्तिएँ देश के रचनात्मक कार्य की ओर लगा देंगे। कतिपय कुनेता और उसके सहयोगी Opportunists हूण शक सदृश जातियों से मिल कर शायद भारत-स्वातंत्र्य के लिये प्रयत्न करें। किंतु यदि वे बुद्धिमान हैं तो उन्हें समझ लेना चाहिए कि भारत को हिटलर मुसोलिनी की सहायता से मिलनेवाली स्वतंत्रता अधिक टिकेगी नहीं। अधिक पराधीन या स्पेन के फ्रैंको के समान ही परावलंबी बना देगी।

बौद्ध महंतों के पापों के प्रायश्चित स्वरूप उन्होंने हूणों को स्पष्ट उत्तर दे दिया था । स्कन्दगुप्त किसी प्रकार दुःख तकलीफ उठाकर पर्यंगुप्त की कुटी पर पहुँचता है। सब शक्तिएँ पुनः वहीं एकत्रित होती हैं। निराशामय स्थिति में भी सबका संघटन, सद्-असद् पात्रों का भारत स्वातंत्र्य के लिये एक ही झंडे के नीचे विरोध भुजा कर युद्ध करना भारत के स्वातंत्र्य का, हूणों से मुक्ति का कारण होता है ।

जैसा पहिले देखा है सम्राट् अशोक के पश्चात् यहाँ का शासन उतना व्यवस्थित नहीं रहा था । उधर बौद्धधर्म का प्रभाव भी अत्यधिक बढ़ गया था । वह अपना वास्तविक कार्य प्रायः समाप्त कर चुका था । बलिदान प्रथा एवं अन्य हिंसाओं का समय अब नहीं रहा था । ये उसका बाह्य रूप थीं किंतु बौद्ध दर्शन का भी प्रभाव अब व्यापक हो गया था । न केवल भिक्षुवर्ग अथवा साधारण जन-समूह ही वरन् राजपरिवारों तक में भी वह समा गया था । जो राजागण बौद्ध न थे उन पर भी तथागत बौद्ध की कृष्णा का राज्य था । प्रायः राजकुमारों में राज-काज से उदासीनता प्रकट होती थी । एक नैराश का साम्राज्य सर्वत्र छा गया था । शासन, युद्ध से विरक्ति पैदा हो गई थी । जबरदस्ती जब युद्ध आ पड़ता तब उसका सामना अवश्य वीरता और निर्भीकता से किया जाता था किंतु हृदयनल में अहिंसा, विरक्ति ही निवास करती थी । यहाँ तक कि गुप्त सम्राट् जो ब्राह्मण-धर्म की पुनर्स्थापना के लिये प्रसिद्ध हैं उन पर भी अवश्य बौद्ध दर्शन की, संसार की क्षण-भंगुरता, विरक्ति और अहिंसा का प्रभाव पड़ा होगा । स्वयं स्कन्दगुप्त के निम्न-लिखित कथनों द्वारा प्रसादजी यही प्रकट करना चाहते हैं ।

“अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है । अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।”

“ऐसा जीवन तो बिडम्बना है—जिसके लिये दिन-रात लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद्-शशि का विलाम हो तब भी दाँत पर दाँत रखे, मुट्टियों में बाँधे हुये लाल आँखों से एक दूसरे को घूँग करें। बसन्त के मनोहर प्रभात में निभृत कगारों में, चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का खोत गर्म रक्त बहा कर लाल कर दिया जाय।”

“इस साम्राज्य का बोझ किसके लिये? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति!—केवल मेरे होने से? मालूम होता है कि सबकी विश्व-भर की शान्ति रजनी में हमी धूमकेतु हैं; यदि हम न होते तब संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता।”

यही मनोवृत्ति कम या अधिक उस समय के सारे राज-समाज की थी और बौद्ध-धर्म की विकृति के प्रभाव एवं उस समय के हूणों के लगातार आक्रमणों के कारण, जो भारत की दशा थी उसका आभास हमें शर्वनाग के निम्न-लिखित कथन में मिल जाता है। भारतवासी उनके बर्बर आक्रमणों से इतने त्रस्त हो गये थे कि नैराश्य-ही-नैराश्य चारों ओर दिखाई देता था। भगवान् पर से भी विश्वास हटता जाता था। अवतारवाद का आशा और मंगलमय सिद्धांत दब गया था। भक्ति और भावना का उद्रेक मिट चला था। इनका स्थान ग्रहण कर लिया था अनीश्वरवादिता ने, स्वकर्म प्रधानता ने जिसके टक्क आदर्श पर पहुँचना, उतनी तप-तपस्या करना, साधारण गृह-शकट चलाने वाले गृहस्थों के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। उस समय भारतीय जनता का कोई धनी-धोरी नहीं था। (शायद बौद्ध जनता के आह्वान पर जो शक एवं हूण जातियाँ आर्त थीं उन्होंने बौद्धों को भी उतना ही सत्ताया जितना अन्यो को।) कनिष्क, हुविष्क आदि सम्राटों ने बौद्ध-धर्म तो ग्रहण कर लिया किंतु भारतीय जनता पर उसी प्रकार अत्याचार होते रहे। उसी की झलक है यह। शर्वनाग कहता है।

“छीन लिया गोद से छीन लिया; सोने के लोभ से मेरे लाखों को शूल पर के माँस की तरह सँकने लगे। जिन पर विरव भर का भाँडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं को राक्षसों ने—हूणों ने, लुटेरों ने गुदड़ी की तरह लूट लिया। किसने देखा? किसने आहों को सुना? भगवान् ने? नहीं उस निष्ठुर ने नहीं चुना। देखते हुए भी नहीं देखा! आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं। देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई प्रचण्ड-ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपनी ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है। पिघल कर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता? अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीलों ओह !!”

‘राजश्री’ के कथानक से भी ‘विशाख’ के समान ही तरकलीन जन-साधारण की ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति पर विशेष प्रभाव नहीं दिखाई देता सिवाय इसके कि उस समय प्रान्तों में आपस ‘राजश्री’ में किस प्रकार विद्वेष, कूटनीतिपूर्ण चालें, युद्ध आपस में चला करते थे। प्रायः ये भी वंशगत हुआ करते थे और एक दूसरे पर विजय प्राप्त करना गौरव समझा जाता था। बौद्ध भिक्षुओं में भी अथ तप, त्याग, ब्रह्मचर्य के स्थान पर वासना-जनित उन्माद, पाखंड फैल गया था। जैसा शान्ति भिक्षु के चरित्र और पतन से हमें दिखाई देता है। देवगुप्त के चरित्र से उस समय के भारतीय नरेशों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। साथ-साथ राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के युद्ध उसी युद्ध भावना, प्रतिहिंसा, द्वेष आ जाने की भावना से प्रेरित होते हुए दिखाई देते हैं और इसकी परम्परा यहाँ तक चलती है कि महर्षि, राज्यवर्धन आदि की षड्यंत्रों से हत्या होती है और हर्ष एवं राज्यभी को राज्य से, सम्मान से, युद्ध से, संसार से विरक्ति हो जाती है, कर्तव्य

में उदासीनता हो जाती है । ऐसे समय में बौद्ध दर्शन, उसका निराशावाद, उसकी प्राणीमात्र की समता की भावना ही जीवन को सुख शांति पहुँचानेवाली हो जाती है । बौद्ध-धर्म द्वारा प्राप्त इसी व्यापक भावना का चित्रण 'राज्यश्री' के कथानक में हुआ है । राज्यश्री का वैधव्य, हर्ष का महान् त्याग और उनकी जमा और जीव मात्र पर प्रेम और दया बड़ी ही सुन्दरता से इस नाटिका में व्यक्त हुई है । इसमें प्रसादजी को राज्य-श्री का ही चित्रण करना अभीष्ट था । हर्ष की राष्ट्र-य-विजय और साम्राज्य भावना सांस्कृतिक, धार्मिक एकता आदि के संबंध का इसमें केवल प्रासंगिक निदर्शन है । इनका विस्तृत चित्रण हमें सेठ गोविन्ददासजी के 'हर्ष' में मिलता है क्योंकि उनका वहाँ लक्ष्य हर्ष की महानता प्रदर्शित करने का है । प्रसाद की 'राज्य-श्री' और सेठजी का 'हर्ष' दोनों मिल कर सम्राट् हर्ष के समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर सुन्दर, व्यापक और व्यवस्थित ढंग से प्रकाश डालते हैं ।

'ध्रुव स्वामिनी' के कथानक पर विचार कीजिये । वे विधवा-विवाह (पुनर्लंगन) और मोक्ष (तलाक) का समर्थन करना चाहते हैं और उनकी अलौकिक प्रतिभा और ऐतिहासिक विशाल ज्ञान ने 'ध्रुवस्वामिनी' इसके अनुरूप पात्र भी इतिहास की तर्हों में से खोज निकाले हैं । प्राचीन इतिहास में से भी हमारी आज की आधुनिक भावना को भी व्यक्त करने का मार्ग निकाल लिया है ।)

प्रसाद का दार्शनिक और कवि उनके नाटकों में भी हमेशा सजग रहा है । दार्शनिक और कवि दोनों चिन्तक होते हैं । उनके चिन्तन के मार्ग

प्रायः प्रारम्भ में भिन्न हुआ करते हैं किंतु वे

प्रसाद का दार्शनिक एक सीमा पर पहुँच कर इतने निकट आ जाते

एवं काव्य चिन्तन हैं कि द्वयता मिट जाती है । एक से नजर आते हैं ।

प्रसाद से एक ही व्यक्ति में जब दार्शनिक

और कवि का सम्मिलन होता है तब वह बड़ा ही उत्थकोटि का और कलात्मक हो उठता है । दार्शनिक का गहन चिंतन जिसमें संसार की कर्तूतों की शुष्कता रहती है, करुणा की पोषक दुःखानुभूति रहती है, उसमें कवि का काल्पनिक सरस चिंतन जब मिलता है तो वह शुष्क दार्शनिकता को भी करुणा के रंग से रंग कर सरस, लोकोपयोगी और व्यापक बना देता है । एक कोन (Cone) के जैसे निम्न भाग अति दूर रहते हैं और ऊंचाई पर वे एक ही बिन्दु में निहित हो जाते हैं । उसी प्रकार दार्शनिकता और काव्यत्व भी चिंतन की सीमा पर जाकर एकाकार हो जाते हैं ।

प्रसाद में भी दार्शनिक और कवि बीज रूप से ही, प्रारंभ से ही, विद्यमान हैं । उनका दार्शनिक अध्ययन करता रहता है । प्रारंभ में वह भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय गौरव, महाभारत और पुराण काल की सभ्यता से अभिभूत होता है । आगे बढ़कर चूंकि उसे रैल-पथ ऐतिहासिक मिला है वह बौद्ध युग के दर्शन में रंग जाता है और अन्त में गुप्त कालीन ब्राह्मणत्व और बौद्धत्व के समाहार के युग में जाकर लय और भंग्य हो उठता है । उसकी इस दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर उनका कवि भी कल्पना के साथ रंग भरता रहता है । उसे सुन्दर बनाता रहता है । इसीलिये उनकी जो प्रवृत्तियाँ प्राचीन भारतीय ब्राह्मणवाद के अध्ययन से प्रारंभ हुई वे बौद्ध दर्शन में रम गई क्योंकि प्रसाद की मूल प्रवृत्ति हमेशा करुणा की ओर अभसर रही हैं । इसीलिये, हमें बौद्ध-अनात्मवाद एवं दुःखवाद की रेखाओं पर उनके चिंतन का अनुशीलन करना पड़ेगा ।

बौद्ध दर्शन ने उनमें मानवी वरुणा की सृष्टि की । अनीश्वरवाद ने उनके स्वतंत्र चिन्तन के साथ उन्हें नास्तिकता अथवा अनीश्वरवादिता के अवलंबन पर 'नियति', 'अदृष्ट' की ओर अभसर

किया। उनके चिंतन के सूक्ष्मत्व ने उन्हें बताया कि सृष्टि का एक क्रम है। उसमें प्रकृति का वाह्यरूप से और नियति का आन्तरिक रूप से प्रवाह बहता रहता है। मानवीय जीवन और उसकी घटनाओं पर ये अनवरत रूप से प्रभाव डालती रही हैं और यही सृष्टि का क्रम सदा रहेगा। उनके इसी चिंतन का सार उत्कृष्टतम, गहनतम रूप में हमें 'कामायनी' में मिलता है। यही सार उनकी भावनाओं में बिखरा हुआ है और वह 'कामायनी' में निचुड़ कर बड़ा ही भव्य, अलौकिक, अमर हो गया है। प्रसाद के चिंतन का यह सार इस युग की, शायद विश्व के काव्य जगत् की सब से अलौकिक घटना, सब से बड़ी और उत्कृष्टतम कृति है।

❁ बौद्ध धर्म ईश्वर को नहीं मानता, आत्मा को निश्चय नहीं मानता क्योंकि निश्चय एक रस मानने से उनकी परिशुद्धि और मुक्ति के लिये गुंजाइश नहीं रहती। किसी ग्रंथ को प्रमाण नहीं मानता क्योंकि हृदयसे बुद्धि की प्रमाणिकता जाती रहती है तथा जीवन-प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानता। बौद्ध धर्म ईश्वर को हृदयलिये नहीं मानता कि किसी भी कारण उसका अस्तित्व अथवा आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं होती। उसे वह सृष्टिकर्ता भी नहीं मानता क्योंकि संसार में जो भी बुराई-भलाई, सुख-दुख, दया-क्रूरता देखी जाती है, वह सभी ईश्वर से और ईश्वर में है ऐसा मानना होगा। ईश्वर सुखमय की अपेक्षा दुःखमय अधिक होगा; क्योंकि दुनियाँ में दुख का पलड़ा भारी है। ईश्वर दयालु की अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि दुनियाँ में चारों तरफ क्रूरता का राज्य है। जीव का आधार अन्य जीव है। ध्यान से देखने पर दृश्य-अदृश्य सारा ही जगत् एक रोमांचकारी युद्ध क्षेत्र है, जिसमें निर्बल प्राणी सबलों के प्राप्त बन

❁ (ले०—राहुल सांकृत्यायन-विशाख भारत अगहन-पौष १९८६ "बुद्ध धर्म क्या है?" 'बौद्धों के अनात्मवाद' के आधार पर)

रहे हैं। अतएव ऐसी अवस्था में वह अपवित्रता आदि बुराइयों का स्रोत होने का भी दोषा होगा। यदि ईश्वर को सब कार्यों का कर्ता-धर्ता माना जाय तो मनुष्य उसके हाथ की कठ पुतली हो जाता है। और फिर वह किसी अच्छे बुरे काम के लिये उत्तरदायी नहीं हो सकता और न उसकी मुक्ति और शुद्धि के लिये ही कोई गुंजाइश रहती है।

बौद्ध धर्म आत्मा को निश्चय इसलिये नहीं मानता कि यदि उसमें बुराई-भलाई हैं तो वे अनादि काल से हैं और रहेंगी। फिर उसकी शुद्धि का प्रयत्न निष्फल है। उसे एक रत्न मानने पर यदि वह बद्ध है, तो अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी, फिर मुक्ति का प्रयत्न निष्फल है। फिर उसे धार्मिक विधि-निषेधों की आवश्यकता नहीं।

बौद्ध धर्म किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण इसलिये नहीं मानता कि उसमें वर्णित-विषयों पर सन्देह न करने से जिज्ञासा का मार्ग रुक जाता है। परिशुद्ध और मुक्त बनने के लिये कर्म करने में मनुष्य का स्वतंत्र होना जरूरी है। और कर्म करने की स्वतंत्रता के लिये बुद्धि का स्वतंत्र होना जरूरी है।

बौद्ध धर्म जीवन प्रवाह को इस शरीर के पूर्व और परचात् तक मानता है। बच्चे की उत्पत्ति के साथ उसके जीवन का आरम्भ होता है। बच्चा शरीर और मन का समुदाय है, बल्कि एक काल में असंख्य अणुओं का समुदाय है। ये अणु हर क्षण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु आ रहे हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण शरीर में परिवर्तन हो रहा है। जो बात यहाँ शरीर की है, वही मन पर भी लागू होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि मन सूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी सूक्ष्म है, और पूर्वपर रूपों का भेद भी सूक्ष्म है। इसलिये उस भेद का समझना कठिन है। आत्मा और मन एक ही है, और आत्मा-क्षण-क्षण बदल रही है।

भगवान बुद्ध का सारा दर्शन अनित्य दुःख और अनात्मवाद के सिद्धांतों पर अवलम्बित है। सभी वस्तुएँ अनित्य हैं क्षणिक हैं, परिवर्तनशील हैं। इस नियम को विना अणुवाद के सभी देश, काल व्यक्ति में मानना भगवान बुद्ध की शिक्षा की सब से बड़ी विशेषता है। यह नियम सिर्फ बाह्य वस्तुओं पर ही लागू नहीं, बल्कि अभ्यन्तर आत्मा तक इसके शासन के बाहर नहीं है। वस्तुतः बौद्ध मत में अनित्यता ही एक नित्य नियम है। वस्तुएँ अनित्य, क्षणिक हैं अतः किन्हीं दो का सदा एक साथ रहना तो हो नहीं सकता। सभी प्रियों का वियोग अवश्यम्भावी है। प्रिय वियोग ही तो दुःख है। जहाँ वियोग का तीर इतनी तेज़ी से चल रहा हो वहाँ प्रिय समागम के आनन्द को पेट भर कैसे लुटा जा सकता है। सभी सुखों की तह में दुःख उसी तरह छिपा हुआ है जैसे दीपक के नीचे अंधकार। दुःख ही दुःखद सत्य है।

इस प्रकार जब हम किसी धर्म पर भी विचार करते हैं तब हम उसका दो प्रकार से अनुशोदन कर सकते हैं। बौद्ध धर्म के भी दोनों रूपों का हमें ध्यान रखना होगा। एक रूप तो धर्म का बाह्य रूप उसका वह है जो बौद्ध-दर्शन है जिसमें सिद्धांत हैं।

आत्मा, अनात्मा, शरीर विश्व के विभिन्न परमाणुओं का विवेचन, विश्लेषण, संबंध आदि का कथन होता है और जो प्रायः शुष्क होता है। इसमें विचार धारा का विकास अथवा पूर्व विचारों का खंडन-मंडन रहता है। प्रायः इसमें मध्यम मार्ग ग्रहण किया जाता है, जैसा कि महात्मा बुद्ध ने अपने पूर्व की विचार-धाराओं की अतिरेकताओं के मध्यम मार्ग को ग्रहण किया है और जो “मध्यमा प्रतिपदा” के नाम से प्रख्यात है।

दूसरा विचारणीय रूप वह होता है जो किसी धर्म का आन्तरिकरूप रहता है जिसमें कोरा सैद्धांतिक आत्मा-अनात्मा शरीरादि का विवेचन

नहीं रहना । उसमें उस धर्म का मूल रूप, रस
धर्म का आंतरिक जीवन और आत्मा रहती है । एक विशिष्ट अन्तर्तम
स्वरूप में प्रवाहित होनेवाली धारा, सरसता, करुणा एक
परम्परा रहती है जो प्रायः उन्हीं सिद्धांतों, दर्शन

पर तो निर्भर रहती है किंतु सिद्धांतों, दर्शनों की दुरुहता, शुष्कता से वह
दूर रहती है और यद्यपि शुद्ध तर्क की दृष्टि से उसमें दोष या अतिरेक
हो जाया करता है किंतु वह ही उस धर्म के अनुयायियों में ध्यास
होकर कल्याण या अकल्याण करती है । बौद्ध, जैन आदि धर्मों ने
दर्शन और सिद्धांतों के परे भी एक जनोपयोगी धारा प्रवाहित की है ।
सैद्धान्तिक, दार्शनिक विवेचन तो बाद में होता रहा ।

प्रसाद की विचार-धारा पर न केवल बौद्ध दर्शन का सैद्धान्तिक
प्रभाव पड़ा है किंतु उससे कई गुण अधिक बौद्ध-साहित्य के अनु-
शीलन का । ऐसा ऐतिहासिक अध्ययन की प्रवृत्ति के कारण भी हो
गया है । बौद्ध-धर्म का उद्गम भगवान् बुद्ध की करुणा में है । उनकी
करुणा विश्व के क्रन्दन में निहित है । वह केवल बलिदानित पशुओं
की पुकार ही नहीं थी जिसने गौतम के हृदय को कँपा दिया, उनके
मस्तिष्क को मथ दिया, विचित्र कर दिया । वह तो मानवकी, समूचे
मानव की, विश्व की, प्राणीमात्र की पुकार थी जिसने उनकी आत्मा में
विद्रोह फैला दिया । जिसने उन्हें करुणा और त्याग की ओर अग्रसर
कर दिया । सब जानते हैं, रोगी, बुद्ध और मृतक को देख कर ही उन्हें
चैराग्य उत्पन्न हुआ । इस युगान्तरकारी घटना को चाहे स्वप्न कहो अथवा
साक्षात् एक-एक व्यक्ति मानो अथवा व्यक्तियों की समष्टि, किंतु है वह
ध्रुव, प्रत्यक्ष सत्य जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती । उन्हीं को
देख कर उन्हें मानव की, प्राणियों की निरोहता, निर्बलता, असहायता
का ज्ञान हुआ । मानव की लघुता, तुच्छता, परवशता का ज्ञान

हुआ जिसने उनके हृदय में मानवी, प्राणी मात्र की, करुणा का उद्रेक किया ।

संसार के सब प्राणी सुख चाहते हैं । दुःख से भय-भीत रहते हैं । वे चाहते हैं उन्हें कोई रोग न हो, शोक न हो । इष्ट प्रियोग और अनिष्ट संयोग न हो । उनमें सदा यौवन, बल 'प्रनाद' की मानवी-बना रहे । वे वृद्ध न हों । मरें नहीं । हमेशा करुणा के आधार उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण होती रहें । मनोवर्द्धन धन, जन, पुरुष अथवा नारी की प्राप्ति होती रहे । वह एक छत्र अधिकारों का भोग करते रहें । उनके कार्यों में स्वतंत्रता में बाधा उपस्थित न हो । इन्हीं सब की उपलब्धि के लिए उसने अपने मनोराज्य में कामधेनु, कल्पवृक्ष और स्वर्गादि की कल्पना की । अपनी सुख स्वतंत्रता के हेतु उसने राष्ट्रों, देशों का नियमित संघटन और विघटन किया । हिंसाएँ कीं । पूजा, यज्ञ बलिदान तथा अन्य अनेक धर्माचरण, ढोंग, पाखंड; क्रियाकांड, तप-तपस्याएँ कीं । मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों आदि का निर्माण किया । किंतु परिणाम क्या निकला ? उसके चारों ओर चक्रयूहों की, मकड़ी के जालों की रचनाएँ होती गईं । वह सुलभने के बजाय उलभना ही अधिक गया । उसने सोचा विकास हो रहा है । उन्नति हो रही है । किंतु एक समय के बाद जो उसने पीछे फिरकर दृष्टि डाली तो उसे ज्ञात हुआ कि वह तो पीछे जा रहा है । अवनति की ओर खिंचता चला जा रहा है । उसने नव सभ्यता का निर्माण किया किंतु वह अधिकाधिक असभ्य, नम्र होता गया । अपने को ढँक कर उसने मानव के सुख के लिये नवीन ज्ञान-विज्ञानों के साधनों की सृष्टि की किंतु उल्टी उसे उनसे दुःख ही की प्राप्ति हुई । इतने प्रयत्नों के बावजूद भी मानव सुखी न हो सका, सम्पन्न न हो सका । मानव-मानव समानता के लिये उसने साम्यवाद का संदेश दिया ।

किंतु उसमें वैमनस्य, विपमता, और कटुता ही की अधिक वृद्धि हुई। उसने सुख, संतोष और आराम के लिये नगरों का निर्माण किया किंतु अस्वास्थ्य, असंतोष, कार्य बहुलता का रोग अपने साथ लगा लिया। आशामय भविष्य और आदर्श में उसे निराशा और अपकर्ष मिला। उसने रोगों से बचने के लिये टॉनिक लिया किंतु वह निर्बलता का अनुभव करने लगा। उसका शरीर खोखला होने लगा। उसने आयुर्वृद्धि के उपायों का आचिष्कार किया किंतु उसे उनके साथ दुःख, अवसाद, ग्लानि और अधिकाधिक विभीषिकाओं का सामना करना पड़ा।

एक समय था जब मनुष्य अराजक, निर्द्वंद्व, स्वतंत्र और बिखरा हुआ था। वह बढ़ा होगा। उसके कुटुम्ब बने। जाति और जातिनेता बने। राष्ट्र नेताओं का उद्गम हुआ। राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई। यह सब क्यों? सुख, शान्ति, आत्म-संतोष के लिये। विकास, वृद्धि और उन्नति के लिये उसने राज्यतंत्र तथा अन्य तंत्रों की स्थापना की कि वह सुखी हो सके। पर वह सुखी न हो सका। राज्यों की सृष्टि के साथ स्वामित्व, भूमित्व और राज्यत्व की उत्पत्ति, और उनके विकास के साथ, राजनीति फिर कुटिल राजनीति, फिर छल प्रपंच का दौर दौरा शुरू हुआ। राज्य शक्तियों को अपनाने, उनका उपयोग निजी स्वार्थ के लिये करने की प्रथा चल पड़ी और फलतः न केवल राज्यों में ही किंतु साम्राज्यों में भी वही छल, प्रवञ्चना, कलह, कौटुम्बिक और राज्य संबंधी, उत्थान, पतन, सृजन और उन्मूलन की वृद्धि हुई। और वह इस सीमा तक पहुँच गई कि राज्य से, राज्यतंत्र से, राजा से, राज्य-संबंधी कार्यों से ही विश्वास हट गया। घृणा हो गई। न केवल व्यक्ति और समाज तक ही बल्कि राज्य तक की यही उदासीनता गौतम के रूप में एकाएक जाग्रत हो गई। आज के समान उस समय भी जिसकी छाठी उसकी भैंस की कहावत सत्य प्रतीत होने लगी। एक विषाद,

एक अवसाद, एक घृणा, एक ग्लानि छा गई। मानव-समाज, राष्ट्र और राज्यों की यही उदासीनता-बौद्ध उदासीनता और निराशा है जिसका दिग्दर्शन हमें प्रसादजी के नाटकों में देखने को मिलता है। आज के समान उस समय भी यही परिस्थिति थी जिसने साधुओं, तपस्वियों की विरक्ति जनसमूह में फैला दी थी। बात यह है कि यह परिस्थिति रहती तो किसी न किसी रूप में हमेशा ही है किंतु लोग सहने जाते हैं, उसका अनुभव जैसा चाहिए वैसा नहीं कर पाते हैं तब कोई महाकवि, कोई महात्मा, कोई महान् आत्मा उन्हें जन समूह में व्यापक बना देती है। उससे उनका अनुभव करवा लेती है। उसमें उसकी अनुभूति की, उस अनुभूति को समझने की शक्ति पैदा कर देती है। 'अज्ञातशत्रु' में बाजिरा कहती है "प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिये कितना प्रयास होता है। अन्धी जनता अंधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना छपटी इतना स्वार्थ साधन कि सहज प्राण्य अन्तरात्मा के सुख-शान्ति को भी लोग खो बैठते हैं। भाई-भाई से लड़ रहा है। पुत्र पिता से विद्रोह कर रहा है। स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं किंतु शासन करना चाहती हैं। मनुष्य-मनुष्य के प्राण लेने के लिये शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं।"

विश्व की यही चिरकालीन दशा है जिसका विशिष्ट प्रदर्शन भगवान् बुद्ध ने किया, मानव को हृदयंगम कराया और वही प्रसाद में उतर आया है जिसका चित्रण 'प्रसाद' के प्रत्येक दार्शनिक पात्र में सहज रूपेण मिल जाता है।

उनके दार्शनिक विचारों की दूसरी धारा, प्रणाली है उनकी 'प्रसाद' की 'प्रकृति', 'नियति', 'अदृष्ट', 'अदृष्ट की क्षिपि' जिसका उन्होंने एवं 'नियति' बहुलता से प्रयोग किया है। इसमें उनका

अध्ययन ही नहीं है उनके दार्शनिक स्वतंत्र चिंतन का सार, निचोड़ है :

अध्ययन और चिन्तन के पश्चात् जिस परिणाम पर वे पहुँचे हैं वह है उनका सिद्धांत वाक्य कि "मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास," देखने में किसी को यह सिद्धान्त पुराना मालूम पड़े, इसलिये शायद मौलिकता से हीन भी किंतु प्रसादजी इस पर पहुँचे हैं वेदों, उपनिषदों और आरम्भकों के चिंतन और अनुभव के पश्चात् के नेति-नेति के समान ही ।

प्रसादजी की यह प्रकृति और नियति क्या है ? मनुष्य वास्तव में प्रकृति का अनुचर ही है । प्रकृति के अनुसार ही वह अपने जीवन और उसके साधनों का उपयोग और नियमन करता है । इसी के आधार पर उसके समस्त कार्य अवलंबित रहते हैं । प्रकृति की सहायता से ही उसके कार्य सफल होते हैं । जिसके ज्ञान से ही मनुष्य को उसकी सच्ची सहायता मिलती है । प्रकृति का विरोध कर वह जी नहीं सकता । दीर्घायु नहीं हो सकता । पूर्णतया सफल नहीं हो सकता । मनुष्य कहता है उसने प्रकृति पर विजय पाई है । कितनी भ्रामक है यह धारणा । यह प्रकृति पर विजय नहीं है । वह तो उसका सहयोग है, अनुकरण है । उसके रहस्यों का ज्ञान है जिसके आधार पर वह रेल दौड़ाता, जहाज चलाता, वायुयानों पर उड़ता और तार अथवा घेतार, रेडियो आदि से खबरें सुनता और दूर के चित्र देखता है । प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके ही वह उसका अनुकरण कर पाया है न कि विरोध के द्वारा । जरा भी विरोध करता है कि उसे पराजित होना पड़ता है । विरोध पर तो वह टिक भी नहीं सकता । उसके आविष्कार, अन्वेषण प्रकृति पर विजय नहीं उसके अनुकरण, शक्तियों का ज्ञान है । 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर' से प्रसाद का यही तात्पर्य है ।

दूसरा तात्पर्य उनका यह है कि मनुष्य में मूलतः कुछ प्रवृत्तिएँ ऐसी होती हैं और उनके रक्त-माँस में इतनी समाई रहती हैं कि उस मनुष्य से, उस मनुष्य के व्यक्तित्व से वे दूर नहीं की जा सकतीं। शिक्षा तो शिक्षा, संस्कृति और समय भी उन्हें दूर नहीं कर सकता। उनमें कमी-वैशी, कुछ परिवर्तन कर सकता है। कुछ रूप बदल सकता है। किंतु उन्हें बदल सकना, ज्ञान, विज्ञान, दैव आदि किसीके वश की बात नहीं। स्वयं उस व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। यह बात केवल व्यक्ति विशेषों पर ही घटित नहीं होती किन्तु समाजों, जातियों और राष्ट्रों पर भी उतनी ही लागू होती है। हम देखते हैं कि मनुष्य अनि सज्जन और परोपकारी होता है। वह अन्याय सहकर भी दुनियाँ के दुःख और कष्ट को भी देखकर अपनी सज्जन प्रवृत्ति नहीं छोड़ सकता है चाहे सदा दुःख ही उठता रहता है। दुष्ट, क्रोधी प्रवृत्तिवालों की भाँति यही दशा रहती है। हम देखते हैं कुछ ही शताब्दियों से सभ्य हुए यूरोपीय राष्ट्र और उनके वंशज देशों में से अभी तक वर्षों रक्त कम नहीं हुआ। सभ्य दृष्टियों से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि मनुष्य यथार्थ में प्रकृति का अनुचर ही है।

और नियति का दाम तो वह है ही। 'अदृष्ट अथवा अदृष्ट की लिपि' चाहे कितनी ही आशामय क्यों न हो किन्तु वह झूलती तो 'नियति की डोरी' पर ही है। 'नियति की डोरी' पकड़ कर ही तो वह 'आशामय भविष्य' में प्रवेश करता है। कुछ क्षणों को, कुछ समय को, कुछ तुच्छ, साधारण, क्षणिक घटनाओं को वह संचालित कर सकता है किन्तु घटनाओं के स्रोतों को, समय का विराटता के समक्ष तो उसे मस्तक नवाना ही पड़ता है। वास्तवतः वह ऐसा सोचना है कि अमुक-अमुक कार्य अमुक-अमुक प्रकार होंगे किन्तु उनकी तह में क्या होने वाला है उसे वह नहीं जानता। यही तो प्रसाद की 'नियति' है। वह

पृथ्वी माता से सोना, चाँदी, कोयला आदि निकालता तो रहता है कि कैसे उनमें भावी विस्फोटों की सृष्टि हो रही है हमसे वह अवगत नहीं। भूचाल आता है। ज्वालामुखी प्रकट होने हैं, बाढ़ें आ जाती हैं। वह धराशयी हो जाता है किन्तु कैसे इनका सृजन कहाँ और कब होता रहता है आज का मनुष्य तो इनसे परिचित नहीं हुआ। भविष्य तो नियति आधान है ही। जिस दिन मनुष्य प्रकृति और नियति के गूढ़तम रहस्यों से पूर्णतया परिचित हो जायगा कदाचित् उस दिन प्रलय हो जाय क्योंकि उसके पश्चात् फिर सृष्टि क्रम रचने की जरूरत पड़ जायगी। प्रकृति और नियति ने अपने गूढ़तम रहस्यों को हमसे अब तक बड़ी सावधानी से छिपाया है। मनुष्य की कितनी सचेतताओं, सावधानियों के विरुद्ध भी प्रकृति और नियति की ही विजय हुई है। वैज्ञानिकों ने सचेतताओं और सावधानियों के सहारे उनका विरोध किया और महात्माओं ने उनकी शक्तियों के अनुकरण को अपना ध्येय बनाया। दो विभिन्न मार्गों से दोनों पहुँचे एक ही स्थान पर। यही तो 'प्रकृति' और 'नियति' का रहस्य है जो अदृष्ट और आशामय है।

'प्रसाद' ने येही भावनाएँ विभिन्न प्रकारों और स्थलों पर अपनी नाट्य रचनाओं में, उनके पात्रों के द्वारा प्रकट की हैं।

अब उनके दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं पर विचार कीजिये। मूल रूप से प्रसाद के दार्शनिक चिंतन में तीन प्रणालियाँ लक्षित होती हैं जो शतधा रूपों में उनके नाटकों में, दार्शनिक दर्शन की विभिन्न विचार-निक विचार कणों में बिखरी हुई हैं। प्रथम धाराओं का चिन्तन दार्शनिक धारा तो वह है जिस पर वेदकाल से लेकर गीताकाल तक के प्राचीन ऋषियों के चिंतन का प्रभाव पड़ा है। दूसरी वह है जिसमें बौद्ध-दर्शन, दुःख अथवा निराशावाद का प्राचुर्य है और जिसमें निवृत्ति मार्ग की प्रधानता है।

तीसरी धारा हमारे युग के चिंतन की धारा है जिसमें प्रसाद का केवल व्यक्तीकरण अथवा स्पष्टीकरण ही नहीं है उनका मौलिक चिंतन भी है। चूँकि प्रसाद की मूल प्रवृत्ति ईतिहास की ओर थी और प्रसाद का रोम-रोम कवित्व अथवा काव्य था, काव्यमय इतिहास अथवा इतिहास समन्वित काव्य था, ये धारायें भी इतिहास के काल के अनुसार उनमें व्यक्त हुई हैं। जिस काल की उनकी रचना है, जैसा उनका पात्र है उसी के अनुकूल उनका दार्शनिक चिंतन पथ प्रशस्त करता जाता है। इसी कारण उनकी दार्शनिकता और ऐतिहासिकता में काव्य ओत-प्रोत डूबा हुआ है और किसी एक का पृथक् देखना, उनमें से किसी को बिलग करना संभव नहीं। पौराणिक काल की रचनाओं में उस काल के दार्शनिक विचारों का सच्चा व्यक्तीकरण, बौद्ध-काल की रचनाओं में बौद्ध-दर्शन की आत्मा और गुप्त काल की रचनाओं में हम काल के बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्षमय अवस्था का अवसाद, रत्नानि, कटुता, ईर्ष्या, जय-पराजय और धार्मिक उन्माद की चिनगारिएँ प्रज्वलित हो उठी हैं।

हमारे युग का कन्दन, प्रतारणा, पराधीनता का अभिशाप और उससे मुक्ति का संदेश, हमारे युग की राजनीतिक, सामाजिक समस्याएँ और उनके हल, राष्ट्रीयता और उसका स्वरूप युग और सृष्टि-उसके विकास और उचित मार्ग के निर्देश और संबंधी चिंतन 'आदर्श', 'भारत एक और अखंड है' का संदेश और इसके लिये भारतीयों और तरुणों के कर्तव्य का ज्ञान और इन सब से ऊपर विश्व-बन्धुत्व अथवा मानवी कल्याण का उद्देश्य उक्त दोनों युगों की रचनाओं में परोक्ष रूप से और 'कामना', 'एक घूँट' में प्रत्यक्ष और विशेष रूप से ऊर्जसित हो उठा है। उछल-उछल पड़ा है। ❀

❀ उनके ऐतिहासिक, दार्शनिक और काव्यमय चिंतन का उज्ज्वलतम, भव्यतम, सर्वोपरि रूप, सार 'कामायनी' काव्य में बड़े ही सुन्दर

प्रथम धारा के दर्शन विशेष रूप से 'जनमेजय का नाग यज्ञ' और 'चन्द्रगुप्त' में, द्वितीय के 'विशाख', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', एवं 'ध्रुव स्वामिनी' में तथा तृतीय के 'कामना' और 'एक घूँट' तथा अन्य सब पूर्वोक्त रचनाओं में होते हैं।

सृष्टि क्या है ? सत असत का समन्वय । एक क्रिया, एक व्यापार, एक खेल । इस व्यापार या खेल को चाहे रोककर खेलो चाहे हँस कर । खेलना अवश्य पड़ेगा । क्योंकि तुम जन्म-धारण कर चुके हो अब रुक नहीं सकते, पीछे हट नहीं सकते । सृष्टि में तो अन्धकार और प्रकाश, दिन और रात, जड़ और चेतन दोनों हैं । तुम्हें तो दोनों में से गुजरना पड़ेगा । यही तो द्वन्द्व है, द्वैत है । इसी द्वन्द्व और द्वैत में से निकलकर तुम्हें अद्वैत तक केवल चेतन, आत्मा की शक्ति तक पहुँचना पड़ेगा । उसे पहिचानना पड़ेगा । अन्धकार में भी तुम्हें प्रकाश दिखाई दे सकता है । देता है यदि तुम देखो, देख सको । (तुम्हारा मुख आगे की ओर ही है फिर तुम्हें निराश होने की आवश्यकता नहीं । कर्म करते जाओ और बढ़ते जाओ । कर्तव्य करो और सुखी रहो । जड़ में भी चेतन का अनुभव करो । जड़ जड़ नहीं वह भी उसी चेतन का ही अङ्ग है ।) इसी तथ्य को समझते हुए 'ज० का ना०' में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है । उसका कुछ न कुछ उद्देश्य है । द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है । उसी का निवारण होना आवश्यक

और कलात्मक रूप में निचुड़ आया है । इसीलिये रामचरित-मानस के पश्चात् हमारे युग के इस सर्वतोमुखी प्रतिभावाले तुलसी ने हमें युग-युग तरु अमर रहनेवाले महाकव्य को प्रदान कर हिन्दी-साहित्य का और यदि विश्व उसे समझे और जब समझेगा तो उसका महान् उपकार किया है । चिरञ्छयी बनाया है ।

है।" अर्जुन पूछता है—“पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जड़ता और पाप को ही सत्ता माने और अन्धकार को ही निश्चय जानेतो?” तब भगवान् कृष्ण समझाते हैं, “तो फिर जीव दुःख के भँवर में ही आनन्द की उत्कट अभिलाषा क्यों करता है। रात्रि के अन्धकार में दीपक क्यों जलाता है? क्या वास्तव में वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नहीं है?..... वास्तव में सर्वत्र शुद्ध चेतन है, जड़ता कहाँ?”

इसी सिद्धांत का काव्य-सौंदर्य समन्वित प्रतिपादन ‘एक घूँट’ में आनन्द द्वारा प्रसादजी करवाते हैं। वह इसी फिलॉसफी का आधुनिक रूप में विश्लेषण है। “अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें?” “कितना सुन्दर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है।”

प्रथम उद्धृतांश में उनका दार्शनिक और द्वितीय में उनका कवि है।

उनके इस दर्शन की धारा ‘स्कन्दगुप्त’ तक में पहुँच गई है। वहाँ भी सृष्टि का वे कोई न कोई उद्देश्य स्वीकार करते हैं किंतु इस उद्देश्य में

उनकी आदर्शवादिता के दर्शन होते हैं। (भारतीय ‘स्कन्दगुप्त’ में अवतार-दर्शन की परंपरा में जैसे उक्त श्रीकृष्ण के गीता-वाद का ‘चिंतन’ ज्ञान की धारा के पश्चात् अवतारवाद का प्रारंभ

हुआ। राम और कृष्ण की गणना अवतारों में की जाने लगी। इसी का आभास हमें निम्न लिखित दो उद्धृतांशों में मिलता है। इनसे हमें यह भी ज्ञात होता है कि आज महात्माजी किन विचारों के पोषक हैं और कैसे उनमें अवतार होने की क्षमता का ज्ञान प्रसाद कर सकते थे। विचार-धारा का यह ‘स्कन्दगुप्त’ द्वारा कहा हुआ अंश यद्यपि बौद्ध दर्शन की प्रथम धारा का ही अ्योतन करता है किन्तु एक समय प्रायः इन्हीं शब्दों में महात्मा गांधी ने भी अपने

को व्यक्त किया था। और उनकी विचार प्रणाली का मूल 'स्कन्दगुप्त' के इसी कथन में है। ('विजया' स्कन्दगुप्त को निर्वृत्ति मार्ग से प्रवृत्ति मार्ग की ओर, संसार की ओर झुकाना चाहती है किन्तु निर्वृत्ति मार्ग परायण स्कन्द संसार में कार्य करता हुआ भी उससे विलग रहता है। केवल कर्म करना चाहता है क्योंकि " इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्वनियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ ? विजया ! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ, परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे केवल उसके संकेत अत्याचारियों के प्रति प्रेरित करते हैं। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देश व्यापी हलचल के भातर कोई शक्ति काम कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपना रक्षा करने के लिये स्वयं सज्ज हैं।" यही तो अवतारवाद के सिद्धांत का प्रतिरूप है। केवल अंतिम वाक्य में ही प्रसाद का चिंतन है उनकी नियति ने अपना रंग भर दिया है। रंग भरना मैं केवल इसी लिये कहता हूँ कि उसे आधुनिक रूप दिया है। "जब-जब धर्म का ह्रास होता है इसी पवित्र प्राकृतिक नियम के अनुसार अवतार होता है।"

'स्कन्दगुप्त' के कथन में जो परोक्ष था उसी को कमला 'अकेले और असहाय' स्कन्द को उद्बोधन करता हुई स्पष्ट करता है। गांधीजी के इतने अनुयायी, गांधीवादी और समर्थकों के होते हुए भी मैं देखता हूँ, अनुभव करता हूँ कि गांधी अकेला है, असहाय है। उसमें एक गहन निराशा है। विश्व के छल प्रपंचों से, विश्व की हिंसावादिता और हिंसा-प्रेम से उसके अनुयायी, जो उसके साथ हैं, उससे पूर्णतः सहमत नहीं। उसके आदेश पर चलेगें किन्तु उसकी अधिकांश बातों को नहीं मानेंगे। क्योंकि हम उस महान आत्मा के उत्थान, परमात्मपन तक पहुँच नहीं पाये हैं। हम उसे समझ नहीं पाये हैं।

फिर भी प्रसादजी का महाशक्ति-केंद्र उन्हें कमला के इन शब्दों में विश्व के कर्म योग में बार-बार प्रेरित करता रहता है। “कौन कहता है कि तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत से डरते हो तो तुम्हारा पतन ही समीप है, तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वास-पूर्ण पदावात से विन्ध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझलो जो अपने कार्यों को ईश्वर का कर्म समझकर (महात्मा गांधी भी यही समझने और करते हैं) करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कन्द ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, मोने वालों को जगाओ, और रोनेवालों को हँसाओ। आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। वार !”

सृष्टि की ओर एक विचारक, चिंतक, दार्शनिक जब देखता है तब उसे इस सृष्टि में, प्रकृति में एक विचित्र भाग-दौड़ दिखाई देती है। वह सृष्टि की क्रियाओं और प्रति क्रियाओं को सृष्टि के आंतरिक देखकर आश्चर्य चकित हो जाता है, विचारने रूप का चिन्तन लगता है। सोचता है यह सब क्यों और कैसे हो रहा है ? वह देखता है नित्य सूर्योदय होता है। एक विशिष्ट दिशा से, एक विशिष्ट पथ से वह नित्य ही उदय और अस्त होता है। चन्द्रोदयास्त होता है। सब देखते हैं पर अपनी आँखें फेर लेते हैं और अपने कार्य में जुट जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि की अलौकिकता एक संसारी पर कुछ प्रभाव नहीं डालती, पर नित्य सृष्टि का क्रम चलता रहता है। पवन बहता रहता है। समुद्र लहराता रहता है। सरिता बहती रहनी है। पत्नी चहचहाते रहते हैं। बगीचे का पौधा बगुन से बड़ा होता रहता है। एक कली खिलती और मुरझा जाती है।

फिर दूसरी फूटती है और उसकी भी यही दशा होती है । प्राणों का संचार और लय होता रहता है । प्राणी मरता और जीता है । एक संसारी जैसे इन्हें देख कर भी नहीं देखता । देखना नहीं चाहता, उसके पास समय नहीं, अवकाश नहीं । एक दार्शनिक इन्हीं से आनन्द ग्रहण करता और विचारों में डूब जाता है । वह कहता है भाई विचारों गोचो, आनन्द लो । पर कोई सुनता नहीं । सब अपने-अपने मार्ग पर प्रपनी-अपनी गति से चले जा रहे हैं । चलते आये हैं, फिर चलते चले जायेंगे । पर क्यों ? यह सब क्यों होता है ? अनादि काल से क्यों होता आ रहा है ? कौनसा आकर्षण है जिसमें सब जड़-चेतन अपने-अपने विज्ञानानुसार परिभ्रमण करते चले जा रहे हैं । विचारक सोचता है पर उसे कोई उत्तर नहीं मिलता । इन्हीं से चाहे वह क्षण भर आनन्द ग्रहण कर ले अथवा विपाद में डूब जाय पर कोई उसे संतोष दिलाने वाला नहीं । वेद नेति-नेति कह थक गये । पुराणों ने बिड़बना फैलाया । विज्ञान अभी तक प्रारंभिक अवस्था में है । विज्ञान ने जानने की कोशिश की किंतु वह भी कृतकार्य नहीं हुआ । किंतु हो सब रहा है । होता आया है, होता जायगा । सृष्टि, लय, जीवन-मरण की समस्या कोई सुलझा नहीं पाया । सब कहीं से आये हैं, आते हैं, और कहीं चले जा रहे हैं; किंतु कहाँ से आये हैं, आते हैं, कहाँ जायेंगे, इसका पता इन आने और जानेवालों को भी नहीं पड़ता । स्वर्ग और नर्क की कल्पनाएँ कभी-भी तो आनन्द अथवा भय का उद्रेक कर देती हैं किन्तु आत्मा में प्रेक्षित नहीं । सब प्रयत्नों के होते हुए भी आज के दार्शनिक का हृदय, व्याख्य की आत्मा उसी रूप में है जहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व थी । प्रसाद भी इसी प्रकार के चिंतन का सार, दाण्ड्यायन ऋषि के कतिपय वाक्यों में भर रहे हैं । बात पुरानी है किंतु प्रसाद जैसे सोने में सुगन्ध का संचार कर रहे हैं । "पचन एक क्षण विभ्राम नहीं लेता, सिंधु की जल-धारा

बही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप से चला जा रहा है।” “देखते हो कोई किसी की सुनता है। मैं कहता हूँ सिंधु के एक बिंदु ! धारा में न बह कर मेरी बात सुनने के लिये ठहर जा। वह सुनता है, ठहरता है?” कितनी मार्मिक उक्ति है। प्रसाद का कितना गम्भीर चिन्तन इन दो वाक्यों में है ?

भारत जब स्वतंत्र था, अपने भाग्य का आप ही विधाता था। तब भारत में उथल-पुथल होते थे। क्रांतियाँ हुई थीं। जिन स्टेजों पर से अमेरिका और योरोप के राष्ट्र अभी-अभी गुजरे राष्ट्रों का उत्थान-पतन हैं और गुजर रहे हैं भारत उनमें से सहस्रों वर्ष एवं क्रांति संबंधी चिंतन पूर्व ही गुजर चुका है। इसीलिये भारतीय-साहित्य में जीवन के राष्ट्रों के, जीवन और मरण के, जातियों के उत्थान और पतनों के मर्म छिपे हुए हैं। वेद, महाभारत, केवल धार्मिक दृष्टि से ही हमारे पूज्य नहीं हैं उनमें भारत के जीवन का स्रोत, मूल रूप, उसके उत्थान-पतन का विश्लेषण है जो बाद के साहित्य में फैल और बढ़ गया है। सुन्दर उज्ज्वल और भव्य हो गया है। उसके आधार, ज्ञान पर, उसकी नीति और राजनीति के बोज पर पाश्चात्य राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान-वृत्त उपन्न कर रहे हैं। और जर्मनी जैसा कि जन श्रुति है इन्दी के मर्मों से अवगत हो उनका समुचित सदुपयोग कर रहा है। यूरोपियन और अमेरिकन आर्य जातियों ने वही तो किया है जो “जनमेजय के नागयज्ञ” में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया था : पहिले अंक के पहिले दृश्य में मनसा ने मंत्रबल से जो दृश्य सरमा को दिखाया है। हम गीता पढ़ते हैं। पूजते हैं। वे श्री कृष्ण के दमन को व्यवहार में, काम में लाते हैं।

इसी ज्ञान और आदेश पर प्राचीन आर्यावर्त में भी उथल-पुथल, क्रांतियाँ, युद्ध हुए। उनकी क्रांतियों के कारणों और संघटनों और विघटनों का विरलेषण प्रसाद ने भी एक दार्शनिक ढंग से अपनी नियति के आवरण में किया है। महर्षि व्यास के कथनों में वे बताते हैं क्रांतियों की प्रेरक शक्तिएँ कौन-सी हैं। 'नियति' अथवा परमात्म शक्ति कैसे विश्व के संतुलन को ठीक रखा करती है। लोग तो केवल उस ओर बढ़ते जाते हैं जहाँ तक कि क्रांतिएँ हो न जायँ। किन्तु महारमा पुरुषों को वे पहिले से अवगत रहती हैं। वे अनुभव के द्वारा भविष्य को जानते हैं किन्तु घटनाओं को रोकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। महर्षि व्यास का कथन है, "दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा कंदुक हैं। अंध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है और ऐसी ही क्रांति के समय विराट् का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्व भूत-हित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।" "परमात्म शक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है। इसी का नाम है दंभ का दमन। स्वयं प्रकृति की निबामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थ सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है। ऐसे कार्य कोई ज्ञान बूझ कर नहीं करता, और न प्रत्यक्ष में उनका कोई बड़ा कारण दिखाई पड़ता है। उस उलट फेर को शांत और विचारशील महापुरुष ही समझते हैं, पर उसे गोकना उनके वश की भी बात नहीं है क्योंकि उसमें विश्व भर के हित का रहस्य है।" "किसी एक तत्व का कोई छुद्र अंश लेकर विवेचना करने से इनका निपटारा नहीं हो सकता।"

इसमें संदेह नहीं बौद्धकाल के साहित्य के अध्ययन का यह प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव को उस काल की रचनाओं में दिखाना भी प्रसाद

के लिये अनिवार्य था किंतु ध्यान से विचार करने पर केवल दो तीन ही स्थल हैं जहाँ प्रसाद ने कथोपकथन में प्रत्यक्ष बौद्ध दर्शन का सैद्धान्तिक रूप रखा है। नहीं तो वास्तव में प्रसाद के विशाल स्वरूप

अध्ययन में, सर्वतोमुखी प्रतिभावाले मस्तिष्क में वेदकाल से आज तक का इतिहास, सच्चा इतिहास, गुंफित है। उनका मेधावी मस्तिष्क युगों-युगों में प्रविष्ट होता हुआ चला जाता है। इतिहास के गंभीरतम तथ्य एक चित्रपट के समान उनके सामने बिछ जाते हैं। वे इन युगों की मूल और प्रेरक भावनाओं को, उनके असली रूप को समझ लेते हैं, हृदयंगम कर लेते हैं और इसीलिये उनके नाटकों में वे अपने जैसे उसी असली रूप में उतर आई हैं। प्रसाद तो जैसे 'कला के लिये कला' वाले कलाकार की भांति अलग खड़े हो जाते हैं और जिस युग का चित्रण हाथ में लेते हैं वह युग वैसा का वैसा उनका विशाल अध्ययन युगों की तहों में, स्तर पर स्तर खोलता हुआ उनके दिमाग में उतारता चला जाता है। इसलिये बौद्ध दर्शन की शुष्कता का अथवा दर्शन का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा हो ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे कहने का आशय केवल इतना ही है कि उन कालों का उनका अध्ययन है और चूँकि उनमें बौद्धकाल एक प्रमुख सदस्याद्वि घेरे हुए है इसलिये बौद्ध दर्शन से परिचिन होना, उस काल की भावनाओं का चित्रण करने समय बौद्ध दर्शन की शुष्कता को सरसता में परिणत करना उनके लिये अनिवार्य था। कोई यहाँ यह प्रश्न उठा सकता है कि बौद्ध काल का ही चित्रण उन्होंने क्यों किया। माध्यमिक काल का मुस्लिम काल का, आंग्ल काल का, अधुनिक युग का चित्रण उन्होंने क्यों नहीं किया। बात दर असल यह है कि प्रसाद में भारतीयता, भारतीय गौरव, स्वतंत्र भारत के गौरवमय काल का आदर्श फूट-फूट

भरा था। भारत मुझे ऐसा दिखाई देता है, वह भारत जिसके लिए प्रत्येक भारतीय का सिर ऊँचा हो जाता है, उनकी नस-नस रक्त में समाया हुआ था। इसीलिये अपने को प्रकाशित करने का जब वे झूठते हैं तब उन्होंने युगों के इतिहासों के पृष्ठों को खोलकर अपनी मनोवांछित वस्तु निकाल देते हैं। कहानियों और उपन्यासों में वे यह बात पूर्ण घटित न हो किन्तु नाटकों में तो शत प्रतिशत सत्य भी है। 'ध्रुव स्वामिनी' का उदाहरण हमारे समक्ष है। आधुनिकतम शरदुनर्विवाह और तलाक (मोक्ष) पर प्रकट करने के लिये भी उनकी प्रवृत्ति उन्हें गुप्त काल की ओर ही खींच ले गई।

इसलिये हम देखते हैं 'एक घूँट' और 'कामना' में उनका कवि ही परि नहीं है, कल्पना और काव्य उफ़न-उफ़न पड़ते हैं। 'विशाल', 'ज्यश्री', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुव स्वामिनी', बौद्ध-काल की रचनाएँ होते हुए इनमें बौद्ध दर्शन की झलक नहीं मिलती। हाँ इस काल का यथार्थ ग्रहण अवश्य मिलता है। एक स्थल पर 'जनमेजय का नाग यज्ञ' 'अज्ञात शत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' में अवश्य बौद्ध दर्शन का दुःखवाद, आशावाद अपनी शुष्कता छोड़ कर और सरसता, काव्यत्व ग्रहण कर चुका हुआ है। इन नाटकों में भी बौद्ध दर्शन नहीं है। प्रसाद का मन है। वह मानवी और आधुनिकतम हो गया है। उसमें गौतम की सी कसौटी तो है किन्तु वह कसौटी निर्वाण करनेवाली या कर्तव्य गं से हटानेवाली नहीं है।

बौद्ध दर्शन का वास्तव शुष्क रूप जो उमका थोड़े शब्दों में सार है धातुसेन (स्कन्दगुप्त) सिंहल के बौद्ध-धर्मी राजकुमार के इस कथन आया है। इसे हम बौद्ध दर्शन का सूत्र कह सकते हैं। बौद्ध दर्शन इतने थोड़े शब्दों में व्यक्त करना केवल प्रसाद का ही काम था।

वह सार है। “अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वासवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी कठुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का आत्म-वाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धांत, मध्यमा प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचलित हुआ। व्यक्ति रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।” इस कथन से यह भी प्रकट होता है कि बौद्धदर्शन को उन्होंने इतिहास अध्ययन के प्रकाश में ही देखा है और बौद्ध-काल के पूर्वैतिहास में उसकी स्थिति निश्चित की है। इसलिये प्रसाद पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव बतलाना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता, उनके नाटकों में वह उस काल के अनुसार स्वयं आगया है।

बौद्ध और साथ ही जैन-दर्शन का भी एक और आंतरिक व्यापक वैराग्य पूर्ण निवृत्ति परायण मार्गवाला सिद्धांत है जो परमाणुओं के क्षण-क्षण परिवर्तन या उनकी क्षणिकता पर जोर देता है और इसी आधार पर जन समूह को वैराग्य का उपदेश देता है। सांसारिक कार्यों से हट कर आत्म कल्याण या मोक्ष प्राप्ति की चेष्टा करने के लिये अप्रसर करता है। एक जैन या बौद्ध संसार में लीन होते हुए भी इसी का राग अलापा करता है। इनके पुराणों और आख्यानों में इस प्रकार की शब्दावली आवश्यकता से अधिक मात्रा में मिल गई है। माणवक (जन-मेजय का नागयज्ञ) अपनी स्थितिपर विचार करते हुए कहता है, “तुमने कभी शरद के विस्तृत व्योम मंडल में रुई के पहलू के समान एक छोटा-सा मेघ खण्ड देखा है। उसको देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक बल्लरी की नन्हीं सी पत्ती के छोर पर विदा होनेवाली श्याम रजनी के शोक-पूर्ण अश्रु-बिंदु के समान लटकते हुए एक हिमकण को कभी देखा है। और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघखंड के हिमकण

की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कबतक रह सकूँगा।

एक प्रसंग और है जहाँ प्रसाद ने सैद्धांतिक, धार्मिक विवेचन को महत्व दिया है। यह प्रसंग है। 'स्कन्दगुप्त' में जब बलि के लिये उत्सुक ब्राह्मणों और पशु के प्राण बचानेवाले बौद्धों में झगड़ा हो रहा था। धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति दोनों बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। प्राचीन वेदोक्त और उपनिषद्काल की दार्शनिकता और भगवान् बौद्ध के सन्देश का सामंजस्य करते हैं। धातुसेन कहता है, "धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तनों को स्वीकार करता है; क्योंकि मानव-बुद्धि ज्ञान का— जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी उसके विकास के साथ बढ़ेगी; और यही धर्म की श्रेष्ठता है।" प्रख्यातकीर्ति दोनों समाज के अंध भक्तों को धार्मिक प्रचारकों के सन्देश को समझाता हुआ कहता है, "मनुष्य अपूर्ण है। इसलिये सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ न कुछ प्राचीन अवश्य परम्पराओं का आश्रय इसीसे ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत हो रहे हैं और होंगे।"

इसके अतिरिक्त दर्शन-दर्शन नहीं रह जाता है। उसे किसी विशेष दर्शन की सीमा में न घेर कर केवल प्रसाद का ही चिन्तन और काव्यत्व

की पराकाष्ठा मानना चाहिए। वह शुष्कता त्याग कर

मानव-चिन्तन

काव्योचित सरसता, मार्मिकता, विदग्धता, सम्मोहन और एक अलौकिकता प्राप्त कर लेता है जिस पर

महाकवि प्रसाद का सरस सौंदर्य, उद्दाम यौवन, शृंगारिकता, मानव-जीवन, स्रोत में बहनेवाले रसों के पारखी प्रसाद का एक छत्र अधिकार है। नाटकों में ऐसे स्थल (यहाँ हमारा विचारणीय विषय नाटकों की अभि-

नय योग्यता का विवेचन नहीं है) बड़े सुन्दर हो उठे हैं। इन स्थलों पर दर्शन ने चिन्तन के रूप में काव्य में सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। वह काव्यों में नारी जैसे नर में आत्मसात् कर देती है जैसे समा गया है। दर्शन और काव्य जैसे Conical ways में उठने-उठते चिन्तन की बिन्दु पर एक रस हो गये हैं। ये स्थल विभिन्न बिखरे हुए गद्य-गीत हैं। इन गद्य-गीतों का पृथक् संकलन एक सुन्दर कलापूर्ण गद्य-काव्य-ग्रन्थ हो सकता है। प्रसाद का कवि जो अन्यत्र प्रकट नहीं हो पाया था केवल आँसू को छोड़ कर और बाद में 'कामायनी' को छोड़ कर नाटकों में छलक-छलक पड़ता है। चिन्तन की ये बूंदें मधु-मत्तिका का शहद भागडार हैं। जैसे मधु-मत्तिका प्रत्येक पुष्प से केवल रस ही रस ग्रहण कर उसे एकत्र करती है वैसे ही प्रसाद की प्रतिभा ने इतिहास के युगों से दार्शनिकता पूर्ण अध्ययन के कण इकट्ठे किये हैं। और उनके काव्यत्व ने, कवि ने, अपने सरसता, सहृदयता के कोष्ठों में इन्हें संचित कर उनमें मधुरता का सार भर दिया है। दर्शन और अध्ययन के ये कण दार्शनिकता और ऐतिहासिकता को त्याग कर मानविकता को, मानवी करुणा को ग्रहण किये हुए हैं। मानवता, विश्व-बन्धुत्व का, प्राणीमात्र की स्वतंत्रता और सुख का, भारतीयता, भारतीय-संस्कृति की श्रेष्ठता और विश्व के पथ-प्रदर्शन का संदेश देते हैं। इस नाटक लेखक के कवि का अणु-अणु रस से भरा पड़ा है। उसने वह निष्पंकोच और मुक्त हृदय से नाटकों में उँडेल दिया है।

'कामना' और 'एक घँट' की तो सारी को सारी रचनाएँ काव्यमय हैं। इसी प्रकार कोमा और मिहिरकुल (ध्रुव-स्वामिनी) के कथन दर्शन और काव्य के सम्मिश्रण।

सृष्टि की रचना और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रसाद की आदर्श कल्पना क्या है वह मणिमाला के निम्न उद्धृत कथन में मिलती है।

इसमें उसका दर्शन है, कल्पना है, काव्य है, काव्य-सौंदर्य है। सरसता है। यह एक गद्य-काव्य है। प्रसाद के प्रकृति साहचर्य का भी इसमें पता लग जाता है कि कितनी उसमें उनकी वृत्तिएँ तल्लीन हो जाती थीं और आनन्द ग्रहण करती थीं। निमल स्रोतस्वनी नील 'वनराजि', 'कोकिल' और 'अंगराग' सदृश भाव कोमल शब्दों के साथ वे दर्शन में सरसता उत्पन्न कर उसे वाक्य बना डालते हैं। मणिमाला (ज० का ना०) कहती है, "मुझसे तो मानो कोई कहता है कि महाशून्य में विश्व इसीलिए बना था। यही उद्देश्य था कि वह एक स्रोतस्वती की तरह नील वनराजि के बीच, यूथिका की छाया में बह चले; और उसकी मृदुबोचि से सुरभित पवन के परमाणु आकाश की शून्यता को परिपूर्ण करें।" आस्ताक पृष्ठता है, "क्या तुम कोई स्वप्न सुना रही हो?" तब

मणिमाला— "भाई, यह स्वप्न नहीं है, भविष्य की कल्पना भी नहीं है। जब सन्ध्या को अपने श्याम अंग पर तपन रश्मियों का पीला अंगराग लगाये देखती हूँ और फिर उस सुनहले शून्य में बसन्त की किसी कोकिल को गाते हुए, उड़जाते हुए देखती हूँ, तब हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं वे स्वयं मेरी समझ में नहीं आते। किन्तु फिर भी जैसे कोई कहता हो कि उस सुदूरवर्ती शून्य क्षितिज के प्रत्यक्ष से उस कोकिल का कोई संबंध है, और वह सम्बन्ध तभी विदित होगा जब शून्य पर फिर कालिमा के आवरण चढ़ने और कोकिल की बोली का अर्थ समझ में आ जायगा।"

आस्तीक— "क्यों मणि, यह सब क्या है ? इसका कुछ तात्पर्य भी है या केवल कुछक है ? इन मांस पिंडों में क्यों इतना आकर्षण है और कहीं-कहीं क्यों इसके ठीक विपरीत है ? जिसको स्नेह कहते हैं, जिसको प्रेम कहते हैं, जिसको वात्सल्य कहते हैं। वह क्यों कभी-कभी

सुभ्रक के समान उसके साथ के लिए दौड़ पड़ता है, जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं ? और जहाँ उसका उद्भव है, वहाँ से क्यों संपर्क नहीं रखता ।”

भारत की पूर्व गौरवमय स्थिति की कितनी सुन्दर, कथ्यमय, सुकुमार कल्पना है, “भावना की प्राप्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह संगम-स्थली हृदय में कुछ अकथनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उत्साह उत्पन्न कर देती है । द्वेष यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते थक कर मार्ग में ही कहीं सो गया है । करुणा आतिथ्य के लिये बन लक्ष्मी की भाँति आगतों का स्वागत करती रही है । इस कानन के पत्तों पर सरलता पूर्ण जीवन का सच्चा चित्र लिखा हुआ देख कर चित्त-चमत्कृत हो जाता है ।”

मालविका (चन्द्रगुप्त) के इस कथन में कि “फूट हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिरा कर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणा को भिगोकर चले जाते हैं । एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, निश्वास फेंक कर चला जाता है । क्या पृथ्वी तल रोने ही के लिये है ? नहीं सबके लिये एक ही नियम तो नहीं । कोई रोने के लिये है तो कोई हँसने के लिये ।”

जीवन-मरण और सांसारिक सुख-दुःख का कितना गम्भीर, पूर्ण सत्य इस कथन में सन्निहित है । विशेषकर प्रथम अंश ‘अधखिले फूलों’ पर ही पूर्ण रूप से घटित होता है । जो ‘बिना खिले ही मुरझा जाते हैं’ वे एक क्षणिक आनन्द, एक क्षणिक उत्साह, एक क्षणिक स्निग्धता दे जाते हैं और फिर सदा के लिये उसी महाशून्य में मिल जाते हैं । मानव-जीवन तो ऐसा ही है । महाकाल में काल की अनन्त अवधि में उसका पाँच, दस, पचास, सौ, दो सौ वर्षों का जीवन क्या अर्थ रखता है । ऐसे ही संसार के दो भाग हैं । केवल दो भाग हैं । उसमें

केवल दो श्रेणियों ही हैं। दो जानियें हैं। एक श्रेणी उनकी है जो हँसने-वाले हैं और दूसरी उनकी जो रोनेवाले हैं। हाँ, संसार की संसृति में नियतिवश कभीकभी यह अवश्य देखा जाता है कि हँसनेवाले रोनेवालों के वर्ग में आ जाते हैं और उन्हें रोना पड़ता है और इसी प्रकार रोने-वाले हँसनेवालों में पहुँच कर हँसने और हठलाने लगते हैं। अपने रोदन को भूल कर रोनेवालों पर भी हँसने लगते हैं और यही तो संघर्ष है जो आज के विश्व को मथ रहा है। हँसनेवालों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। वे यह नहीं सोचते कि पृथ्वी के पृष्ठों पर रोनेवालों का भी अस्तित्व है। उन्हें जीवन धारण करना है। जीवन धारण के लिए स्वास्थ्य और रक्त की जरूरत है और वह अन्न, पानी, हवा से मिल सकता है। कतिपय हँसनेवालों की श्रेणी के लिये प्रायः समस्त रोने-वालों को कितनी वेदनाओं का सामना करना पड़ता है; वे नहीं जानते। संसार के प्रारम्भ में, सभ्यता के स्वर्ण युग के पहिले इससे उनकी उच्च स्थिति थी। तब हँसनेवालों की ही संख्या थी। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ उनकी संख्या का तो जल्दी-जल्दी हास होने लगा और आज हम जब सभ्यता की उच्च कोटि पर, चोटी पर बैठ कर भविष्य आदर्श के अनन्त आकाश पर दृष्टिपात करने का साहस कर रहे हैं तब रोनेवालों की संख्या कितनी अधिक बढ़ गई है कि देख कर जग-क्रियन्ता को भी यदि वह है तो लज्जा से सिर झुका लेना पड़ेगा।

मानवता न आज केवल पराजित हो रही है किंतु वह एक उपहास की वस्तु हो गई है। बीसवीं शताब्दी से हमने आशा की थी कि वह नवाविस्कारों, नवीन अन्वेषणों से मानव का पथ प्रशस्त करेगी। स्त्री को पराधीनता से मुक्ति, पुरुष को गुलामी से मुक्ति, पराधीन राष्ट्रों एवं देशों को उनके शोषकों से मुक्ति देगी। विश्व में समता और शान्ति का राज्य होगा। स्वतंत्र विचारधाराएँ उन्मुक्त होकर विश्व-कल्याण करेंगी।

उन्नीसवीं शताब्दी को अपनी आत्मजा बीसवीं शताब्दी से और भी कई आशाएँ थीं। उन्नीसवीं शताब्दी का मानव दानव से इन्हींलिए लड़ रहा था कि दानव के पतन पर उस देव-दर्शन होंगे किंतु आज दानव का स्थान एक महादानव, एक कुत्सा, एक कृत्या, एक अनृतस पिपासा ने ले लिया है और मानव को अपनी इच्छा का खेल समझ लिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में हम कह सकते हैं इतना प्रकाश नहीं था जितना आज है, किंतु उस क्षीण प्रकाश में भी, अन्ध-ईश्वर-भक्ति के जमाने में भी, मानव दानव नहीं हो गया था। वह श्रद्धालु था। दयालु था। मानव सहानुभूति से परिचित था। उसमें दुर्गुण थे किंतु महानाशकारी कुप्रवृत्तियाँ उससे दूर थीं। पर आज हमने सम्भ्रता, प्रकाश, विज्ञान, ज्ञान-विस्तार के युग में जैसे सद्वृत्तियों को एक दम ही तिलाञ्जलि दे दी है। पश्चिमिक सम्भ्रता का पूर्णानुभव कर रहे हैं। हम आज सुख और दुःखों का भी क्रय-विक्रय करने लगे हैं। पहिले धन श्रेष्ठ था तो आज भी धनी, फॅक्टरियों और मिलों का स्वामी श्रेष्ठ है। वह आज मानवता को कुचल सकता है। देवत्व की हँसी उड़ा सकता है। राज्य को गले लगा सकता है। आज विश्व-कल्याण, निबल राष्ट्रों की स्वतन्त्रता एक Mockery है। आज के युग ने तो हमें इस परिस्थिति में डाल दिया है कि “जन्म-मिद्ध तो कोई भी अधि कार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है।” (अज्ञात०) संसार भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, पड्यंत्र और प्रतारणा है।” (अज्ञात०) आज मानव-मानव, राष्ट्र-राष्ट्र, देश-देश में विश्वास नहीं। मित्रता नहीं और है तो वह भी कुत्रिम, दिखाऊ। एक समय मनुष्य का मनुष्य पर इतना विश्वास था उसमें से मानवता का हास नहीं होता था। किंतु आज तो यह नहीं कहा जा सकता कि “मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिये निरवकाश हृदयवाता हो जायगा।”

नारी स्वातंत्र्य और सम्मान की आवाज आज हमने खूब बुलंदकर रखी है पर भविष्य ही विचार करेगा कि हममें अतृप्त आकाँक्ष और वासना का कितना मिश्रण हो गया है ? किंतु पाठक विचार करें कि विवाहित स्त्रियों के संबंध में प्रसाद की इस उक्ति में किनना गम्भीर सत्य समाया हुआ है कि वे हैं “धनियों के प्रमोद का कटा छँटा हुआ शोभा वृत्त । कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी कुतर दी गई । माली के मन से सँवरे हुए गोल मठोल खड़े रहो । ” यही तो है न नारी जीवन । क्या पौराण्य और क्या पाश्चात्य ?

अब प्रसाद का मानवता का जो आदर्श है उस पर हम विचार करें । उनकी दृष्टि में साधारण तौर पर मनुष्य एक प्राणी है और इस-लिए वह एक पशु है । विचारशीलता ही उसमें एक ऐसा तत्व है जिसके कारण हम उसे मनुष्य संज्ञा देने हैं और वही जब स्वार्थ त्याग कर सांसारिक कर्मों में प्रवृत्त होता है तब वह देवत्व के उच्च स्थान पर अधिष्ठित हो सकता है । “मनुष्य साधारण धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निस्स्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है । ” यथार्थ में यही तो बात है तभी तो मानव का पशु जब उसमें उबल-उबल पड़ता है तब वह बर्बर हो उठता, उसका मनुष्यत्व उसे छोड़ जाता है । जहाँ उसमें विचारशीलता आती है वहीं फिर उसका मनुष्यत्व अपने स्थान पर वापिस लौट आता है । निस्स्वार्थ कर्म करनेवाले पुरुष को हम देव क्यों कहते हैं ? यह संसार बड़ा कुटिल स्वार्थी है । मनुष्य का वश चले तो वह मनुष्य को खा जावे । जहाँ वह शक्तिशाली है वहाँ वह यही कर रहा है । पूर्ण निस्स्वार्थ मनुष्यों का मिलना दुष्कर हो गया है । ऐसी अवस्था में अपने हितों को, अपनी वासनाओं को, अपने प्रिय, स्त्री, सन्तानों को, धन का प्राणों का मोह त्याग जो मानव-मानव के लिये, उसकी सहायता और सेवा के लिये

कटि बद्ध हो जाता है वह देव नहीं तो फिर क्या है ? देवत्व हमारी एक कल्पना हो सकती है जैसा प्रसादजी भी मानते हैं। ऐसे महा पुरुष के लिये केवल श्रद्धाञ्जलि वश ही हम देव महादेव अथवा अवतार कहकर अपने को व्यक्त कर लेते हैं नहीं तो ऐसे परोपकारी, निस्वार्थी सज्जन संसार में प्रायः कठिनता से मिलते हैं। यहीं “जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वहीं तो सम्पूर्ण मनुष्यता” के हमें दर्शन होते हैं। जब हम में यही सम्पूर्ण मानवता जाग्रत होगी तब ही हम प्रसाद के इस आदर्श पर कि ‘विश्व भर में एक कुटुम्ब स्थापित और मानव मात्र-स्नेह परिपूरित हो’ पर पहुँच सकते हैं।

चूँकि प्रसादजी की प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर नहीं थी इसकी मञ्जुल व्यञ्जना उनकी नाट्य-कला में दिखाई नहीं देती। एक व्यंग, व्यंग की तीव्रता, मार्मिकता तो उनमें मिलती है हास्य-विनोद किंतु यह गंभीर है, हास्योत्पादक नहीं। हास्य का तो प्रायः सर्वथा अभाव है। हाँ शिष्ट सदाचार पूर्ण सम्योचित, अवलुब्ध विनोद अवश्य है। वह कहीं-कहीं प्राचीन परिपाटी पर और कहीं-कहीं अस्पष्ट भी हो गया है। अस्पष्ट तो इतना भी कि उससे विनोद की उद्भावना ही नहीं होती। हास्य-विनोद का संपर्क जीवन की सरल, क्षणिक, मोटी भूलों युक्त, कलह, विवाद, विचित्र-विचार, विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट आदतों, अभ्यासों, बोलने के ढंग, भाषा आदि से परिपूर्ण घटनाओं, वक्रोक्तियों से रहता है। इसका संबंध जीवन के हलचल से भी रहता है। इसमें कल्पना को प्रायः स्थान नहीं मिलता। आधुनिकता का, आधुनिक पात्रों का ही मुख्य भाग रहता है। इसीलिये कल्पना के धनी प्रसाद में यदि हास्य-विनोद की क्षीण, अस्पष्ट रेखा मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। उसमें यदि अकृत्रिमता प्रकट हो तो प्रसाद को दोषी मान लेना उचित नहीं।

'सज्जन' में प्राचीन परिपाटी वाला हलका, बालकोचित हास्य है। इसीलिये उसमें स्पष्ट और अधिक हास्य की सृष्टि होती है। 'प्रायश्चित्त' सदृश रचना में हास्य के लिये कोई स्थान ही नहीं था अतएव उसमें वह नहीं मिलता। 'विशाख' का हास्य पुराना मालूम पड़ता है और वह इतना साधारण हो गया है कि रोचक नहीं रह गया है। 'सज्जन' और 'विशाख' दोनों में संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त विदूषकों द्वारा ही हास्य की योजना की गई है, किन्तु जहाँ प्रथम में व्यंग, वक्रोक्ति के कारण उसमें चमक आ गई है वहाँ द्वितीय में पेद्द विदूषक की साधारण बातचीत में कोई आकर्षण नहीं रह गया है। "अज्ञातशत्रु" सदृश काव्य, कल्पना, विचार-गांभीर्य, दार्शनिकता पूर्ण नाटक में बेचारे हास्य को स्थान कहाँ मिल सकता था? इसीलिये वह इसमें एक कोने में दबा पड़ा है। प्रसादजी ने इसमें हास्य की सृष्टि के लिये बसन्तक वैद्य को चुना है। इसलिये हास्य-वैभिन्न्य तो मिलता है किंतु 'रेचक', 'मूर्खता का गुग्गुलु' और "बुद्धि का अजीर्ण" द्वारा जो हास्य है उसे हास्य न कहकर विनोद के कुछ कण कहना ही उपयुक्त होगा। 'कृष्णालय' कृष्ण का आलय है। अतुकांत कविता-प्रदर्शन है। इसमें भी हास्य का रहना असंभव था। हास्य के कुछ छींटे 'जनमेजय का नागयज्ञ' में त्रिविक्रम और दो विद्या-थियों द्वारा 'वेद' और उसकी 'शाखा' में शिष्ट, सुन्दर रूप में और 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक के समान आ गये हैं। 'एक घूंट' के चंदुला में हास्य की विज्ञापन-संबंधी नवीनता है। 'एक घूंट' का हास्य जिन विचारों के ढंग पर लिखा गया है उन्हीं के अनुरूप है। है किंतु वह भी विनोद पूर्ण। हाँ 'कामना' का हास्य आधुनिक और तीखा हो गया है जिसमें पाश्चात्य आधुनिक वास्तव अनुकरण के प्रति एक तीव्र व्यंग है। 'राज्य श्री' में विनोद की बड़ी ही मधुर, सरस, आकर्षक, सरल, गतिपूर्ण, सुंदर व्यञ्जना है।

‘स्कन्दगुप्त’ में भी शिष्ट, राजोचित, मृदुल हास्य-विनोद की योजना है किंतु है वह भी अत्यल्प ही। सिंहलकुमार धातुसेन की प्रकृति विनोदमयी सृजित करके हास्योत्पादकता की रक्षा की गई है। मुद्गल में भी जो विदूषक है और जिसके द्वारा हास्य और मनोरंजन को स्थान मिलना चाहिए था हास्य के केवल कुछ कण ही हैं, व्यंग्य ही अधिक है। वास्तव में हास्य की सुष्ठु योजना प्रसाद में नहीं मिलती, यह सकारण है। ‘चन्द्रगुप्त’ में भी हास्य को स्थान नहीं मिला है। वास्तव में बात यह है कि प्रसाद अपने अध्ययन, मनन में, अपने इष्ट और प्रस्तुत विषय में इतने लीन हो जाते रहे होंगे कि अपने लक्ष्य के समक्ष उन्हें और कुछ दिखाई नहीं देता होगा। भारत के जिन युगों का चित्रण करना उन्हें अभीष्ट था वे संघर्षमय रहे हैं। ‘चन्द्रगुप्त’ भी संघर्ष-प्रधान नाटक ही है। इसलिये उन कालों में हास्य की योजना करना और फिर आज की इस पद्धति के द्वारा कि हास्योत्पादक पात्र भी कथा वस्तु के ही अंग हों, उनका चरित्र भी, व्यक्ति उससे भिन्न न हों, बड़ा कठिन है। इसीलिये प्रसाद इस प्रकार की योजना करना चाहते होते तो भी न कर सकते। आज के भारतीय-साहित्य में भी हम देखते हैं हास्य की योजना बड़ी कठिन मालूम पड़ती है, योजना हो ही नहीं रही है। यह तो सुख-स्वातंत्र्य-युग की देन है। आज यह है नहीं तो उसकी योजना कहाँ से हो ? असहयोग आन्दोलन के पहिले जिन्होंने सोचा, मस्तिष्क को हास्य की ओर लगाया जैसे जी० पी० श्रीवास्तव तो वे कुछ किसी भी प्रकार हास्य अवश्य लिख रहे हैं, लिखा है। इसी प्रकार आन्दोलनों-असहयोग एवं सत्याग्रह—की गति जब मन्द पड़ी तो कुछ-कुछ हास्य-विनोद के छींटे बिखरे हुए दिखाई दिये, यहाँ तक कि नेताओं और कांग्रेसमनों को देश-व्यापी आंदोलनों से पृथक् रह कर तमाशा देखने-वाले साहित्यकों ने अपना लक्ष्य बनाया। हास्य में सामाजिक योजना

हम देखते हैं अभी तक हमारे यहाँ नहीं हुई है। बरनर्ड शॉ वगैरह में जैसे सामाजिक प्राणियों की, भाषा, भाव, वेश-भूषा कामनाओं, विवाहादि की इच्छाओं को, दैनिक गार्हस्थ्य-जीवन की घटनाओं को लेकर जैसी हास्य की योजना रहती है वैसे न हमारे यहाँ है और न अभी कुछ समय तक दिखाई देगी। हमने जीवन को अभी ऊपर से ही देखा है। हमारे समाज की, देश की करुणा ही देखी है। समाज की तह में मुख्यतः यही है इसलिए यही दिखाई देती है। उसकी सूक्ष्मता तक पहुँच कर हास्य-योजना करना, व्यक्तियों को लेकर हास्य-विनोद की, व्यंग्य की सृष्टि करने का समय अभी हमारे लिये दूर है।

विशेषकर उर्दू के लेखकों में, प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि में हास्य की जो यथार्थ योजना मिलती है वह मुसलिम समाज की विशेषता है। इसका कारण यह है कि प्रायः मुसलमान इन आन्दोलनों से दूर रहे हैं, स्वयं में मरत रहे हैं। उनकी जातीय प्रवृत्ति भी इसी प्रकार की है। एक बात और वह यह कि उनमें चिंतन की एक साधारण स्थिति ही अब तक पाई जाती रही है। ये सब बातें हास्य-विनोद और मनोरंजन के उपयुक्त और उनकी सृजन करनेवाली हैं। अतएव उस साहित्य में अथवा उस प्रकार के साहित्य में वे मिलती हैं। दक्षिण भारत के निवासियों में भी, जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, यही प्रवृत्ति कुछ अंशों में जातीय रूप में पाई जाती है और इसलिये दक्षिण भारत के साहित्य में यह प्राप्त होती है। बंग साहित्य में भी हास्य की उच्चकोटि की योजना के न मिलने का भी यही जातीय कारण है। भावुकता अधिक होने के कारण इसके साहित्य में भावुकता अधिक मिलती है। कहने का आशय यह कि प्रसाद में हास्य की योजना अत्यल्प होने का यही एक देशीय कारण है।

नाटकों के लिये नृत्य एवं गीत अथवा संगीत की विशेष आवश्यकता तो नहीं किन्तु इनका प्रयोग अति प्राचीन काल से प्रेक्षकों की मनोरंजनी वृत्ति जो उनमें स्वभावतः पाई जाती है की तृप्ति के नाटकान्तर्गत गीत लिए होता रहा है। आज भी भारतीय साहित्य में हो रहा है तथा पाश्चात्य नाटकों में नहीं तो रंग-मंचों पर, सिनेमाओं पर इनका प्रयोग होता ही है। वास्तव में नाट्य-कथा वस्तु से इनका कोई विशेष संबंध नहीं है। संबंध तो वेश्या या गायनवृत्ति या प्रवृत्तिवाले पात्रों से ही होता है और ऐसे पात्रों की नाटकों में सृष्टि कर मनोरंजनी वृत्ति की तृप्ति के लिये एवं प्रेक्षकों को सात्विक विराम देने के लिये कभी-कभी आवश्यक भा हो जाता है। और यहीं तक इनका प्रयोग वाञ्छनीय भी है। समयाभाव अथवा नाट्य-कथा वस्तु में विस्तार होने के कारण प्रायः इनका अभाव उचितसा जँचने लगा है। चरित्र-चित्रण का जो इस युग की मुख्य वस्तु है इसमें संबंध न होने के कारण भी इनकी ओर कम ध्यान दिया जाता है। मुख्य प्रबंधक भी गायनादि में संशोधन अथवा परिवर्तन करता ही है, यदि लेखक विशिष्ट सिद्ध हस्त, अनुभव या प्रख्यात न हुआ तो। अतः नाटक लेखक यदि गायन का ओर ध्यान न दे तो कुछ हानि नहीं।

प्रसाद ने जो अपने नाटकों में गीत-प्रवेश किया है वह किसी विशेष उद्देश्य या धारणा को लेकर नहीं किया है। इनका प्रवेश एक तो उनकी काव्य प्रवृत्ति के वश, दूसरे अनुकरण के कारण तथा तीसरे निरुद्देश्य ज्ञान बूझ कर हुआ है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नाटकीय प्रतिभा से उनकी काव्य प्रतिभा का विकास पहिले ही अच्छा तरह हो गया था और इनका यही क्रम अंत तक बना रहा। हाँ चन्द्रगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी में अवश्य दोनों कलाएँ समकक्ष सी दिखाई

देती है। काव्य-प्रतिभा तो प्रौढ़ता के कारण एवं नाटकीय प्रतिभा सिद्ध हस्तता के कारण प्रायः एक ही समोच्च कोटि की हो गई हैं।

'सज्जन' में जो उनकी प्रथम नाट्य कृति है, उनकी नाटकीय प्रतिभा तो बाल और प्रारंभिक रूप में है किंतु उनकी कविताएँ काफी अच्छी, विकास की सूचक एवं नाटकीय प्रतिभा से अधिक प्रौढ़ हैं; यद्यपि संस्कृत एवं पूर्व भारतेंदु एवं भारतेंदुकाल के नाटक-लेखकों एवं अनुवादकों के अनुकरण पर ही उनमें इनका प्रयोग हुआ है। उनमें व्रजभाषा पन भी आ गया है। किंतु 'विशाख' से 'सज्जन' का क्रम एकदम ही बदल गया है। आधुनिक नाटक प्रणाली की दृष्टि से, बड़ा होने के कारण ही वह पहला नाटक भी माना जाना चाहिये क्योंकि 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' तो उनके सर्वथा बाल प्रयत्न ही हैं। 'विशाख' में मंगलचरण और भरत वाक्य के सदृश कविताओं के साथ ही पारसी रंगमंचों एवं पं० बदरीनाथ भट्ट के ढंग की शैरबाजी के समान कविताएँ भी हैं किन्तु उनमें उर्दूपन न होकर हिंदीपन और भारतीय सांस्कृतिकता है। केवल कहने का ढंग व लहजा उर्दु आना है।

'विशाख' से ही उनकी 'बिश्व-मंगल-कामना' एवं नाटकोचित तथा दार्शनिकता पूर्ण कविताओं का भी प्रारंभ हो जाता है यद्यपि इनमें गहनता एवं पूर्ण रस-परिपाक की कमी रह जाती है। दार्शनिकता भी साधारण भ्रमणकारी साधुओं की है जिसके चिंतन की स्थिति उच्च नहीं। प्रसाद के गहन काव्य चिंतन एवं दार्शनिकता के चिन्ह भी 'विशाख' की कविताओं से ही मिलने लगते हैं। इसकी कतिपय कविताएँ रीतिकाल की शृंगारिकता, रूप-वर्णन को भी लिए हैं जिनमें आवरण, शैली आधुनिक है।

'करुणालय' गीत-काव्य तो क्या, एक पद्यबद्ध कथानक है। अतुकांत छंद हैं। मार्मिकता काव्यगत् न होकर कथागत् है।

कविता की यही प्रगति 'जनमेजय का नागपञ्च' और 'कामना' में भी दिखाई देती है। हाँ 'एकघूँट' में कवित्व की और 'अज्ञातशत्रु' में कवित्व एवं दार्शनिकता की मात्रा अधिक है। 'राज्य श्री' में पुनः कविता का सुन्दर, प्राञ्जल, प्रवादगुण समन्वित रूप मिलता है किंतु चिंतन की तह उतनी ऊँची नहीं हुई है जितनी 'चन्द्रगुप्त' एवं ध्रुव-स्वामिनी में है। वास्तव में इन पिछले दो नाटकों में काव्य, कला, दर्शन, चिंतन, राष्ट्रीय भावना एवं संगीतका सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। ये सब गुण 'स्कंदगुप्त' में भी मिलते हैं किंतु कम मात्रा में।

अपने पहले के नाटकों में तो प्रसाद साधारण नाटकीय परंपरा द्वारा गीतों को लाये हैं, मध्य की नाट्य कृतियों में दार्शनिकता युक्त काव्य के प्रदर्शन के लिये तथा अंतिम नाटकों में केवल कला—नाट्यकला नहीं—और काव्य के सुन्दर और भव्य रूप के लिये।

इनके उपयोग का एक कारण ज्ञात होना है। प्रसाद यह सोचते होंगे कि अभी हिंदी के रंगमंच तो हैं ही नहीं, अभिनय की दृष्टि से इन पर विचार-आलोचना भले ही की जावे किंतु मेरे नाटकों का उपयोग पठन के लिये ही अधिक होनेवाला है, हो रहा है। ऐसा हुआ भी। अतएव उन्होंने अपनी काव्य प्रवृत्ति को नाटकों में स्वतंत्रता से आजाते दिया। अच्छी से अच्छी रचनाओं में भी परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता होती ही है अतएव जब इनके अभिनय का समय आवेगा तब संशोधन एवं परिवर्तन सहित वे खेल लिये जावेंगे। इसलिये नाटकों के साथ उनकी नाटकान्तर्गत कविताओं की विचार धाराओं पर ही विचार करना उचित है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अधिकांश कविताएँ संगीताश्रयी हैं। गीत हैं।

‘प्रसाद’ ने इनका बहुलता से प्रयोग किया है और इनमें उनका काव्य कूट-कूट कर भरा हुआ है। इनमें भाव-विभोरता, ‘प्रसाद’जी की समस्त काव्य-विशेषताएँ भी अंकित हो गई हैं। ‘प्रसाद’ ने जानबूझ कर अपनी भाव-लहरिएँ इनमें आ जाने दी हैं। अतः उन पर विचार करना आवश्यक है। हमारा उद्देश्य यहाँ उनके औचित्य अनौचित्य पर विचार करना नहीं किन्तु उनके प्रयुक्त रूपों एवं भाव-धाराओं पर प्रकाश डालना है।

प्रसाद ने गीतों का प्रयोग निम्न प्रकार किया है।

- १ साधारण नाटकीय कथावस्तु के उपयोग के लिये।
- २ साधु-वैरागी महारमाओं एवं नर्तकियों के गायनों के रूप में।
- ३ राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये।
- ४ संगीतात्मक काव्य-कला की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिये।
- ५ सरस दार्शनिकता के स्फुरण स्वरूप।
- ६ ऐसी गहन शृंगारिकता एवं मानवीय मनोविकारों के चित्रण के लिये जिनमें शरीर एवं यौवन सम्बन्धी उत्कट, उद्बेलित करनेवाली भाव-लहरियों को प्रथम मिला है एवं उन्मादक यौवन, यौवनागम, यौवनोचित आकांक्षाओं, प्रभावाँ, बेकली आदि की मार्मिकता को व्यक्त करने के लिये।
- ७ नवयुग के संदेश एवं वाणी के रूप में।
- ८ आंतरिक भाव गांभीर्य के प्रदर्शन के लिये।
- ९ भक्ति एवं प्रार्थना के रूप में।
- १० मानवता के समर्थन एवं जीवन में सरसता लाने के लिये।
- ११ अतीत-स्मृति, करुण एवं भारतीय संस्कृति के प्रदर्शन के लिये।
- १२ प्रकृति और प्रेम की आराधना स्वरूप।

नाटकान्तर्गत कविताओं का संग्रह पृथक् ही प्रकाशित करना उचित है। शुक्लजी के गद्य के समान प्रमाद के गीत संपूर्णतः उद्धृत करने योग्य हैं। कहीं से भी कोई पद, कोई पंक्ति, कोई छंद ले लीजिये वही रस, वही अभिव्यक्ति, वही जीवन, वही उत्साह, वही तीव्र अतीत स्मृति स्वदेशानुराग मिलेगा। कविताओं के अगूरे एवं स्फुट उद्धरण देना भावों को छोड़ देना है।

प्रमाद में राष्ट्रीय-भावना बड़े ही उज्ज्वल, भव्य, उत्साह और जीवन से भरे हुए रूप में हुई है। उनका हुनगामी गीत है।

“हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से प्रबुद्ध-शुद्ध भारती,
 म्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
 अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोचलो,
 प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।
 असंख्य कीर्ति रश्मियां, विकर्ण दिव्य-दाह सी,
 सपूत मातृ-भूमि के—रुको न वीर साहसी !
 अराति सैन्य सिन्धु में—सुवाडवाग्नि से जलो,
 प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो ।”

यह वन्देमातरम् गायन के समान ही राष्ट्रीय जीवन-प्रदायक है। इसी प्रकार ‘ध्रुवस्वामिनी’ की यह कविता जो चन्द्रगुप्त से एकाकी, राज्य-विलग द्वारा कही गई है रवीन्द्रनाथ ठाकुर की “अकेलो चलो चलुरे” वाली कविता के समान ही आँधी, अग्नि से लड़ कर, ज्वालामुखियों के मुख में से निकल कर भी सफलता, ध्येय की ओर बढ़ानेवाली है। कोई पंक्ति, कोई शब्द ऐसा नहीं जो जोश, जीवन, से भरा न हो; भयंकरता, भीषणता से सामना करने का साहस न भरता हो।

“पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले,
 संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत भरने बे मेल चलें।

सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निजपद हो चूम रहे,
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।
पृथ्वी की आँखों में बन कर, छाया का पुतला बढ़ता हो,
मृने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिभा को गढ़ता हो ।
पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता सा,
कष्टों पर कुछ मुसकाता-सा, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।
खिलते हों क्षत के फूल वहाँ, बन व्यथा तमिस्रा के तारे,
पद-पद पर ताण्डव नर्तन हो, स्वर सप्तक होवें लय सारे ।
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा, हो काँप रही भय चकित निशा,
हो स्वेत धार बहती कपिशा, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।
विवलित हो अचल न मौन रहे, निष्ठुर शृङ्गार उतरता हो,
क्रंदन कंपन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो ।
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव-नील कंठ की छाप लिये
विश्राम शान्ति को श्राप दिये, ऊपर ऊँचे सब भेल चले ।” (ध्रु.)

“जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष,
निष्ठावर काढ़ें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ।” (ज.)

सबसे अधिक जहाँ प्रसाद की प्रतिभा का काव्य के लिये उपयोग
हुआ है वे स्थल हैं जहाँ उन्होंने यौवन, यौवनोत्खास, सौंदर्य की
अभिव्यक्ति की है । शब्दों में से भाव उछल-उछल पड़ते हैं । चित्र खींच
देते हैं । एक अद्भुत आकर्षण की सृष्टि करते हैं ।

“भरा नैनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप ।” (च.)

सौन्दर्य के प्रति—

“तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

हे लाज भरे मौन्दर्य !
बता दो मौने बने रहते हो क्यों ?”

“सुधा सीकर से नहला दो”

“मधुप कब एक कली का है”

“सखे ! वह प्रेम मयी रजनी

आँखों में स्वप्न बनी ।” (च.)

“यौवन ! तेरी चंचल छाया ।

इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया ॥

मेरे प्याले में मद बन कर कब तू छली समाया ।

जीवन वंशी के छिद्रों में स्वर बन कर लहराया ।

पल भर रुकने वाले ! कह तू पथिक कहाँ से आया ॥” (ध्रु.)

“आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज में कोकिल बोल रहा ।

मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप

शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप,

लाज के बन्धन ग्योल रहा ।

बिछल रही है चाँदनी छवि-मतवाली रात,

कहती कंपित अधर से बहकाने की बात ।

कौन मधु मदिरा घोल रहा ?” (च.)

“अनिल भी रहा लगाये घात ।

मैं बैठी द्रुमदल समेट कर, रही छिपाये गात ।

खोल कर्णिका के कपाट वह निधङ्क आया प्रात ।

बर जोरी रस छीन ले गया, करके मीठी बात ।”

“मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिलकी तान ।

सुखी कर साजन को सजनी, झवीली छोड़ हठीला मान ।” (वि.)

“आज मधु पीले यौवन वसंत खिला ।” (ज.)

“देखी नयनों ने एक झलक, वह छवि की छटा निराली थी।
मधु पीकर मधु परहे सोये, कमलों में कुछ-कुछ लाली थी॥
सुरभित हाला पी चुके पलक, वह मादकता मतवाली थी।
भोले मुख पर वे खुले अलक, सुख की कपोल पर लाली थी॥ (ज.)
करुणा, वेदना, अतीत-स्मृति, स्मृति पर काव्य एवं जीवन के बूँदे
अप्रतिम दुर्द हैं ।

“यह कसक अरे आँसू सह जा ।
वन कर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता रह जा ।
वन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा ।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा । ” (ध्रु.)

“ न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल । ” (स्कंद.)

“संस्मृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना,
‘वह उच्छ्वलता थी अपनी’—कह कर मन मत बहलाना ।” (स्कंद.)

“प्यारे निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे !” (अ.)

“निकल मत बाहर दुर्बल आह !

लगेगा तुझे हँसी का शीत ।”

“प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह ।
बेंच डाला था हृदय अमोल, आज वह माँग रहा था दाम,

वेदना मिली तुला पर तोल, उसे लोभी ने ली बेकाम ।”

(स्कंद.)

“ओ मेरी जीवन की स्मृति ! ओ अन्तर के आतुर अनुराग !
वैठ गुलाबी विजन उपा में गाते कौन मनोहर राग ?”

“ आह वेदना मिली बिदाई
मैंने भ्रम-वश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई ” (चं.)

“ आशा विकल हुई है मेरी
प्यास बुझी न कभी मन की रे !
ओ बेपीर पीर ! हूँ हारी,
जाने दे, हूँ मैं अधमारी,

सिसक रही घायल दुखियारी

गाँठ भूल जीवन-धन की रे !” (रा.)

“ हृदय के काने-कोने से
स्वर उठता है कोमल मध्यम, कभी तीव्र होकर भी पंचम ।
मनकें रोने से” (वि.)

“सघन बन वल्लरियों के नीचे ।

उपा और संध्या किरनों ने तार बिन के खींचे ॥
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे,
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दग सींचे ।
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलींचे,
मानस तरी भरी करुणा जल होती ऊपर-नीचे ॥” (का.)

प्राचीन शैली पर शुष्क दार्शनिकता संबंधी—

“ जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख पाता है ।
मानव, तू ने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है ॥”

आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्ववश तब कैसे था ।”

(पूरी कविता देखिये, ज० का० ना० पृ० ४६)

“ घबराना मत इस विचित्र संसार से ।

औरों को आतंक न हो अविचार से ॥”

❀

❀

❀

सीधी राह पकड़ कर सीधे चले चलो

छले न जाओ औरों को भी मत छलो

निर्बल भी हों, सत्य पक्ष मत छोड़ना,

शुचिता से इस कुहक-जाल को तोड़ना”(वि.)

“अब भी चेत ले तू नीच !

दुःख परितापित धरा को स्नेह जल से सींच ॥ (रा.)

प्रार्थना, आत्म-निवेदन, विश्व-मंगल-कामना संबंधी—

“नाथ, स्नेह की लता सींच दो, शान्ति-जलद-वर्षा कर दो ।”

(पूरी कविता देखिये ज० का० ना० पृ० १०७)

“ करुणा कादम्बिनी बरसे—

दुःख से जली हुई वह धरणी प्रमुदित हो सरसे।” (रा.)

“ पालना बनें प्रलय की लहरें

शीतल हो ज्वाला की आँधी

करुणा के घन छहरें

दया दुलार करें पल भर भी

विपदा पास न ठहरे

प्रभु का हो विश्वास सत्य तो

सुख का केतन फहरे । ” (स्कंद.)

चन्द्रगुप्त

मुद्राराक्षस एक संघर्ष-प्रधान नाटक है। इसमें कथा का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त के सिंहासनासीन हो जाने के पश्चात् शुरू होता है। चाणक्य और राक्षस में जो राजनीति, कुटिल नीति पूर्ण मुद्रा राक्षस (अनुवादक चालें चन्द्रगुप्त के शासन को स्थिर करने, राक्षस भारनेदु बाबू) पर नीति पूर्ण विजय करने, एवं उसके हृदय और मस्तिष्क पर अधिकार करने के लिये बली गई हैं ताकि वह शासन सुदृढ़ और स्थायी हो सके, उनका संघर्षमय वर्णन इसमें मिलता है।

नन्द का नाश कर चन्द्रगुप्त सिंहासनासीन हो गया है। चाणक्य की प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई है लेकिन शासन अभी सुदृढ़ नहीं हुआ था, राक्षस-सा भक्त, बुद्धिमान, नीतिज्ञ और उत्साही युवक मंत्री चन्द्रगुप्त के विरुद्ध वातावरण फैला रहा था। राज्य के बाहर भी वह सैन्य-संग्रह उसके विरुद्ध कर उसके उन्मूलन का उपाय कर रहा था केवल स्वामि-भक्ति के लिये, निस्स्वार्थ भाव से। राक्षस का चरित्र मुद्राराक्षस में बड़े ही सहृदय रूप में प्रकट हुआ है यद्यपि उसको राजनैतिक पराजय हुई है। चाणक्य विजयी हुआ है किंतु राक्षस के सद्गुणों, नीतिज्ञता, विद्वत्ता स्वामिभक्ति का बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ता है। चाणक्य भी उसके इन गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करता है। राक्षस की महत्ता इससे भी प्रकट होती है कि चाणक्य जितना राज्य को सुदृढ़ करने का प्रयत्न करता है उससे कहीं अधिक राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने का प्रयत्न करता है और केवल इसी उद्देश्य को लेकर इस नाटक की रचना

की गई है। यद्यपि नाटक की समस्त घटनाओं के सूत्रों का संचालक चाणक्य है किंतु उसका संचालन और उद्देश्य केवल राक्षस सट्ठसिंह को जीवित पकड़ शासनोपयोगी बनाना है इस नाटक में चन्द्रगुप्त का कोई महत्त्व नहीं, वह तो एक चाणक्य की इच्छा, बुद्धि और उद्देश्य पर चलनेवाला वीर सम्राट् है जो निष्क्रिय भी है। चाणक्य स्वतः उसके लिये राज्य प्राप्त करना है, उसकी व्यवस्था करता है और उसे सुदृढ़ तथा स्थायी बनाता है। वीर चन्द्रगुप्त शायद गतयुद्ध की थकान मिटाना और उसके पश्चात् शासन व्यवस्थित होने पर आमोद-प्रमोदों की ओर रुचि रखता-सा प्रतीत होता है।

इसके पढ़ने से कतिपय अन्य बातों पर भी प्रकाश पड़ता है जिनका विवेचन ऐतिहासिक तथ्यों के द्वारा प्रसादजी ने भी चन्द्रगुप्त नाटक में किया है। वे ये कि चाणक्य उस समय का एक नीति कुशल-विद्वान्, राजनीतिक उथल-पुथलों, क्रांतियों का करनेवाला व्यक्ति था। किंतु वह अवश्य ही वयस्क रहा होगा। उसका परिवार भी नष्ट हो गया था जैसा कि कथाओं से ज्ञात होता है। इन सब उथल-पुथलों के करने का एक मात्र कारण उसका नंदों से प्रतिशोध करना ही था और इसीलिये वह इन प्रपंचों में फँसा, किंतु वह निस्पृही, निस्स्वार्थी ब्राह्मण भी था और योंही वह इन सांसारिक, राजनीतिक झगड़ों से मुक्त हो सका क्योंकि वह विरक्त होकर अपने ब्राह्मणोचित कार्यों में पुनः संलग्न हो गया। मुद्रा-राक्षस में राक्षस को मंत्री पद देने के लिये जो उसका प्रयत्न है वह इसीलिये कि जो राजनीतिक महाक्रांति वह संघटित कर सका था और जिसके फलस्वरूप चन्द्रगुप्त एक महान् राज्य का अधिपति हो सका था उसे अन्त तक सफलतापूर्वक कर सके। वह महाक्रांति तब तक सफलीभूत नहीं हो सकती थी जब तक चन्द्रगुप्त का शासन स्थायी तथा सुदृढ़ न होता।

चन्द्रगुप्त का शासन सुदृढ़ और स्थायी हो सके इसलिये राजस से विद्वान्, जनप्रिय, नीति कुशल व्यक्तिकी उसको जरूरत थी। चाणक्य का जो इन घटनाओं में ऊब गया था। वह मानसिक शांति चाहता था। उसकी महत्ता, नीति कुशलता, विद्वत्ता अपकार-प्रतिशोध कर सकी थी किंतु उसका ब्राह्मणत्व उससे इन सबसे पृथक् होने का आग्रह कर रहा था। राजस, ऐसा ज्ञात होता है, तरुण रहा होगा और चाणक्य यह चाहता था कि उसे मंत्री बना कर वह राज्य की नींव दृढ़ और स्थायी बना सकेगा। उसके मनोनुकूल व्यक्ति उस समय उसकी दृष्टि में केवल राजस ही था। राजस उसका प्रतिद्वंद्वी भी था किंतु उसमें चाणक्य का प्रगाढ़ विश्वास भी था। राजस ने भी अन्त में मंत्री पद स्वीकार कर लिया। इन सब घटनाओं से ज्ञात होता है कि उस समय के विद्वान् नागरिक व्यक्ति भी देश भक्ति को कितना महत्व देते थे। देश के लिये लड़ना, उसकी भलाई के लिये समय पर एक हो जाना और प्रतिद्वंद्वी होते हुए भी हृदय में निष्कपटता, सरलता और शुद्ध-भाव रखना ये भारतीय संस्कृतिजन्य विशिष्टताएँ रखने थे। इसीलिये राज्यसूत्र राजस के हाथों में छोड़ कर चाणक्य निश्चित होकर वाणप्रस्थी हो गया। अध्ययन, मनन और शास्त्र-प्रणयन में लग गया।

‘मुद्राराक्षस’ में चाणक्य एक ऐसे नीतिकुशल व्यक्ति के समान हमारे समक्ष आता है जिसका सिद्धांत था किसी को भी चाहे वह अपना दृष्ट मित्र, सहयोगी अथवा अत्यंत विश्वासी ही क्यों न हो विश्वास न करे। अपनी गुप्त बात न बतावे। उसका कथन था कि सोची हुई बात भी इतनी गुप्त रखे कि वाणी को पता न चले। सम्पूर्ण नाटक में इसी कथन की पुष्टि होती है। उसके विश्वासी व्यक्ति भी उसके चरित्र, कथनों तथा कार्यों को नहीं समझ पाते हैं। अंत में स्वयं राजस को यह कहना पड़ा है कि, “जाल पर्यों का खेल में, कछु समझ्यो नहिं जात।”

जीवसिद्धि चरणक चाणक्य का ही एक भेदिया था किंतु चाणक्य के अन्य जन भी इस बात को नहीं जानते थे। उसकी चालें इतनी दुरूह हैं कि नाटक-लेखक राजस की सराहना करते हुए भी चाणक्य की कुटिल नीति की सराहना करता है। उसकी कुटिल नीति की, उसकी दुरूहता, गम्भीरता तथा पेंचीलेपन की, उसके सूत्रों को फैलाने, संचालन और इकट्ठे करने की शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करना पड़ती है। नाटक-लेखक इन चक्र-व्यूहों को चित्रित कर अत्यन्त विशिष्ट स्थान संस्कृत-साहित्य में उचित रूप से प्राप्त कर सका है। अपने ढंग का तो वह एक ही श्रेष्ठतम नाट्यकार है।

चाणक्य न केवल कुटिल नीतिज्ञ ही है किंतु वह दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ, आत्मविश्वासी भी है। नाटक की सब घटनाएँ उसकी इच्छा, बुद्धि के अनुसार चलती हैं। जैसी घटनाएँ वह विचारपूर्वक निश्चित कर लेता है वे अवश्य होती हैं और उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार वह चाहता है। उनका बड़ी परिणाम निकलता है जैसा उसने सोच रखा है। प्रतिज्ञा उसकी इतनी दृढ़ है कि अन्न तक उसकी पूर्ति का जाती है। आत्म-विश्वास इतना दृढ़ है, आवश्यकता से अधिक है कि चाणक्य सगर्व कहता है, “अब चित्रगुप्त इन नामको मेटहि जब हय लिखहि हति।” क्रोधो भी वह इतना है कि क्रोध में जो बात मुँह से निकल गई वह पत्थर की लकीर हो गई। संसार की कोई शक्ति उसमें बाधा नहीं डाल सकती।

इन सब गुणों में जो उसकी विशेषता है और उसके सब कुकृत्यों को दुनियाँ की दृष्टि में—ऐसी दुनियाँ की दृष्टि में जो राजनीतिक चालों में या बातों में भी अपनी हृदयगत मानविक भावनाएँ देखा करती है—ओझल कर देती है, वह उसका ब्राह्मणत्व है। उसकी निस्पृहता, निस्स्वा-

र्थता है। सब शत्रुओं का नाश कर चन्द्रगुप्त सदृश सम्राट् का गुरु होते हुए भी, उस पर अत्यधिक प्रभाव रखते हुए भी, उसका मंत्री-पद स्वीकार नहीं करता है। उसे अपनी मानसिक शांति, विश्व-कल्याण-कामना, ग्रंथ-प्रणयन आदि कार्यों से हीनतर समझता है। वह पद राजस को इस प्रकार सौंप देता है जैसे वह उसकी धरोहर हो। उसका कर्त्तव्य हो। यहाँ चाणक्य, कुटिल राजनीतिज्ञ चाणक्य आदर्श हो गया है, महत् हो गया है, भारनीय हो गया है। यदि उसने इतना त्याग नहीं किया होता तो शायद भारतीय महत्त्व को प्रदर्शित करनेवाला अमर-ग्रंथ-अर्थशास्त्र-उसने न रचा होता।

राज्य स्वामिभक्त निम्स्वार्थ सेवक है। मृतक स्वामी के मर जाने पर भी वह बिना किसी स्वार्थ के चाणक्य और चंद्रगुप्त का विरोध और युद्ध करता है। युद्ध नीति तथा राजनीति में भी वह चतुर है। चाणक्य के राजनीति के जाल में फँस कर पराजित होने का कारण उसकी राज-नैतिक बुद्धि का अभाव नहीं किंतु असहायबस्था है। चाणक्य भी उसकी इस बात को स्वीकार करता है। इसलिये चंद्रगुप्त के पूछने पर कि आपने राजस को क्यों निकल जाने दिया चाणक्य कहता है, "इसलिये कि यदि वह यहाँ रहेगा तो जनता जो उसे चाहती है, विद्रोह कर बैठेगी। उसे राज्य में रहते हुए राज्य की पूरी सहानुभूति एवं सहायता प्राप्त हो सकेगी किंतु बाहर रहकर वह कुछ नहीं कर पायगा। ऊपरी जोड़तोड़ मिलाता रहेगा और हम अपने वश में अपने मनोनुकूल कर सकेंगे।" और वास्तव में ऐसा हुआ भी। जिन घटनाओं का सृजन राजस को वश में करने के लिये किया गया वे न हो सकतीं यदि राजस राजधानी में या राज्य में होता। चाणक्य ने बुद्धिमानी से उस पर उसके मित्र की प्राण रक्षा कर उपहार भी लाद दिया। रोमैटिक ढंग से यह प्रकट भी कर दिया कि वह उसे बुद्धिमान, योग्य और कुशल

मंत्री समझता है। वह स्वयं निस्स्वार्थी है। नंद-वध शायद सीजर या चार्ल्स द्वितीय के वध के समान उसे आवश्यक हो उठा था। इस आवश्यकता का दर्शन मुद्राराक्षस की घटनाओं, ऐतिहासिक तथ्यों के निदर्शन की पूर्ति 'राय' एवं 'प्रसाद' के 'चंद्रगुप्त' नाटकों से भलीभाँति हो जाती है। राक्षस भी इन सब आवश्यकताओं का अनुभव करता है और इसीलिये मंत्री-पद ग्रहण करना अयोग्य नहीं समझता। यदि हूब बानों को उसने न समझा होता तो उस सा स्वामिभक्त सेवक कभी चंद्रगुप्त के साम्राज्य का मंत्री-पद स्वीकार नहीं करता।

स्वामि भक्ति के साथ-साथ मित्र-प्रेम भी उसमें उच्च कोटि का है। चंदनदास पर जब आपत्ति आती है तो अपने प्राणों की भी परवाह न कर वह आग में कूद जाता है। मित्र-स्नेह की उसमें प्रबलता होने के कारण ही चाणक्य उसे राजधानी में अपने आप खींच लाया और बिना राक्षस को किसी प्रकार की आँच आये मित्र के प्रति कर्तव्य पालन का भाव भी उसमें इसी से प्रकट होता है।

राक्षस राजनीतिज्ञ और रणकुशल योग्य सेनापति भी अवश्य है किंतु वह सज्जन, उदार, भोला, मनोभावों को छिपा न सकने वाला भी है। चाणक्य के समान उसमें उतनी राजनीतिक दुरुद्धता या कुटिलता भी नहीं है। उसकी भावुकता और सहज विश्वास करने की प्रवृत्ति के कारण तो उसे धोखा होता है। दुःख उठाना पड़ता है। चाणक्य से वह पराजित होता है। आत्म विश्वास का भी उसमें अभाव है और अपनी हार देखकर वह भाग्य ही को दोष देता है। आत्म-विश्वास उसमें सहज प्रकृति वश नहीं प्रयुक्त परिस्थितियों के कारण है। वह पराजित होकर भी विजयी है और चाणक्य विजयी होकर भी पराजित-सा है। संसार तो विजय और पराजय, सफलता तथा असफलता का ध्यान रखता है। जो विजयी है, सफल है वह सर्व गुण सम्पन्न है। जो

पराजित है, वह असफल है गुणों से रहित है। उसमें दोषों की उद्भावना सहज हो जाती है। संसार की इसी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन मुद्राराक्षस में उसके लेखक के द्वारा हुआ है यद्यपि वह उसके महत्त्व और उसके प्रति जो उच्च भाव रहे थे उन्हें भी व्यक्त करता है। नेपोलियन और वेलिंगटन की पराजय और विजय के समान राक्षस और चाणक्य की असफलता और सफलता है।

“राय बाबू की प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण और विचित्र रसमयी थी। वे बड़े ही उदार और देश-भक्त लेखक थे। उनके नाटक दर्शकों और पाठकों को इस मर्त्यलोक से उठा कर स्वर्गीय और पवित्र भावों के किसी अभिनव-प्रदेश में ले जाते हैं। उनके नाटक पवित्रता, उदारता, देश-भक्ति और स्वार्थ-त्याग के भावों से भरे हुए हैं। उनमें शृंगार और हाव-भावों की गन्ध तक नहीं।”

राय महोदय चन्द्रगुप्त में कथा का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने के पहिले से ही करते हैं। मुद्राराक्षस में जहाँ कथा का क्षेत्र मगध व उसके निकट का प्रान्त है वहाँ 'चन्द्रगुप्त' में अफगानिस्तान से बंगाल तक का भाग आ जाता है। राय के चन्द्रगुप्त में राक्षस को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि मुद्राराक्षस में जहाँ चाणक्य और राक्षस की कूट राज-नीति, बुद्धि-कौशल, स्पर्धाजन्य आकांक्षा आदि का द्वन्द्व मिलता है वहाँ चन्द्रगुप्त में कोमल, शृंगारिक वात्सल्य-भाव, स्वदेश-प्रेम, विश्व-प्रेम आदि की भावनाएँ प्राप्त होती हैं। चन्द्रगुप्त में न केवल भारतीय कथा-वस्तु ही चलती है किंतु सेल्यूकस, एन्टीगोनस और हेलेन का भी उतना ही और उसी प्रकार महत्त्व प्रदर्शित होता है जिस प्रकार और जितना चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि का। 'छाया' की सृष्टि कर राय महोदय ने इसमें एक अलौकिक साधना, त्याग, नारी-हृदय की निधि, वियोग

और हृदयाकर्षिता को प्रश्रय दिया है। हेलेन और छाया की सृष्टि, चरित्र-चित्रण ऐसी नाट्य-वस्तुएँ हैं जिनसे अमर भावनाओं और सहानुभूतियों का समुचित प्रदर्शन होता है। मुद्राराक्षस में नाटक का प्रधान पात्र और घटनाओं का केन्द्र चाणक्य है। राक्षस केवल उसका विरोध करता है। चन्द्रगुप्त उसके हाथ का खिलाँना है। सम्राटत्व एवं वीरता का प्रतीक चन्द्रगुप्त नहीं मालूम पड़ता। मुद्राराक्षस में प्रतिभा, कृतनीति, और द्वन्द्व का परिचय है किंतु उस समय तक स्वदेश प्रेम एवं विश्व-प्रेम की भावनाएँ जिस प्रकार आज हम उन्हें ग्रहण करने हैं उस प्रकार और उस रूप में नहीं थीं। इसीलिये व्यक्त रूप से मुद्राराक्षस में नहीं मिलतीं।

राय महोदय का बंग-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उक्त साहित्य ने नाटकों में न केवल एक नवीन प्रणाली को ही जन्म दिया है अपितु देश-प्रेम के आधुनिक रूप को, जीवन के उच्च आदर्शों को और सूक्ष्म रूप से प्रेम को भी बड़ी ही भव्यता से चित्रित किया है।

जिस प्रकार भारत में मुस्लिम आगमन के पश्चात् उनकी यहाँ जड़ जमजाने के पश्चात् दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन का प्रयत्न कबीर, अकबर आदि ने किया। जोधाबाई सदृश महिला को उपकरण बनना पड़ा। उसी प्रकार आज से बाईस सौ वर्ष पहिले सिकन्दर शाह के आक्रमण के पश्चात् हेलेन अथवा प्रसाद की कार्नेलिया को भी यूनानी और भारतीय संस्कृतियों के गठबन्धन के लिए एक साधन बनना पड़ा होगा। इसी का मार्मिक चित्रण राय ने हेलेन के रूप में 'चन्द्र-गुप्त' में रखा है।

जन श्रुति के आधार पर मुद्राराक्षस की रचना हुई है। उस समय तक की ऐतिहासिक खोज के केवल ढाँचे को आधार बना कर और उसमें ऐतिहासिक पात्रों की स्वप्रतिभा से चित्रण कर राय महोदय ने 'चन्द्र-गुप्त' लिखा। चरित्रों के चित्रण में राय बाबू को स्वतंत्र प्रतिभा और

कल्पना से ही काम लेना पड़ा है और इसीलिये जहाँ 'चन्द्रगुप्त' में सरस भाव लहरियें हैं, मानविक भाव हैं, हार्दिक अनुभूतिएँ हैं वहाँ चरित्र-चित्रण अशुद्ध, अस्पष्ट, अविकसित और असमान भी है। चाणक्य की एक प्रेयसी है जिससे समय-असमय वह बात किया करता है, सम्मति लिया करता है, जिसे वह आह्वान किया करता है और जिसकी प्रेरणा पर ही उसका सारा जीवन निर्भर है। किंतु यह प्रेयसी उसकी मृत पत्नी है, देवी है, नियति या प्रकृति है यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। वह सदा एक पहेली ही बनी रहती है। इन दृष्टियों से विचार करते हुए प्रसाद का चन्द्रगुप्त—कहीं अधिक सुन्दर हुआ है। प्रसाद के चन्द्रगुप्त में पात्र न केवल ऐतिहासिक हैं किंतु उनका चरित्र-चित्रण आधुनिकतम ऐतिहासिक तथ्यों पर निर्भर है। स्वयं प्रसाद ने भी उन तथ्यों को खोजने का और उनके अनुरूप अपने पात्रों के गठन करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। इसीलिये प्रसाद का चरित्र-चित्रण, स्वाभाविक, यथोचित हुआ है। 'मुद्राराक्षस', 'चन्द्रगुप्त' (राय), 'चन्द्रगुप्त' (प्रसाद) में इसीलिये विकास की एक सुशृंखला प्राप्त होती है।

इसमें सन्देह नहीं "द्विजेन्द्र बाबू हास्य-रस के और व्यंग्य-कविता के भी सिद्धहस्त लेखक थे। अतएव उनके नाटकों में, उनके निर्मल और उज्ज्वल हास्य-विनोद को पढ़ कर— जिसमें अश्लीलता की या भाँड़पने की एक छींट भी नहीं—आप लोट-पोट हो जायेंगे।" किंतु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि हास्य और विनोद के समय-असमय के उनके प्रयोग ने, कहाँ, किस प्रकार और किस समय क्या बोलना इसका उनमें उचित ध्यान नहीं रहने दिया है। कहीं-कहीं तो वह असाधारण, अरुचिकर या अप्रसंगिक भी हो गया है।

एक बात का आभास 'चन्द्रगुप्त' (राय) में और मिलता है। वह यह कि लेखक ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता और उच्चता को आधार बना कर वर्ण-

विभेद और स्पर्धा की भावना को उत्तेजित करना चाहता है। व्यक्तियों के भावों को उत्तेजित कर वह अपना कार्य-साधन करना चाहता है। ऊँच-नीच का भेद भी प्रकट होता है। अपने ही वर्ण की उन्नति—कामना और उसके प्रति किये गये अत्याचारों के प्रतिशोध लेने की इच्छा, प्रतिहिंसा की संकीर्ण प्रवृत्तिएँ भी चाणक्य के माध्यम द्वारा बराबर अन्त तक चली जाती हैं। मानव में इन प्रवृत्तियों का होना अस्वाभाविक तो नहीं किंतु अश्रेयस्कर अवश्य है। इसीलिये यह शंका होती है कि यद्यपि राय महोदय की देश-भक्ति की सीमा काश्मीर से कन्याकुमारी और सिंध से बङ्ग तक भारतीय सीमाएँ होती हैं तथापि उसमें कदाचित् विदेशियों के लिये, नीचों के लिये, मुस्लिमों के लिये कम क्षेत्र है। किंतु इन सब भावनाओं को आश्रय देते हुए भी राय महोदय दोषी नहीं टहराये जा सकते क्योंकि लेखक भी तत्कालीन भावना से, उस समय तक के विकसित भावों से प्रभावित होता है। उनका उपयोग अपनी रचनाओं में करता है। वह कभी-कभी अपने युग से आगे भी जाता है किंतु उस युग के सौ-पचास वर्षों के बाद कौनभी नवीनताएँ, भाव-लहरएँ, प्रकट होंगी इसके परिचय की उससे आशा रखना अनुचित है, असामयिक है, प्रगति-विरोधी है। इसीलिये हमें उन पर विचार करते समय उनकी हृदयगत मूल भावनाओं का ही ध्यान रखना चाहिये।

मुद्राराक्षस का चाणक्य एक मेधावी कुटिल राजनीतिज्ञ है किंतु राय का चाणक्य एक साधारण, विघट घटनाओं का सृजक और मानवी गुणों से युक्त है। स्वयं के प्रति और ब्राह्मणत्व के प्रति उसे काफी अभिमान है। ब्राह्मणत्व अथवा ब्राह्मण-समाज के अधःपतन, पूर्व गौरवच्युति, साधना एवं तप-बल के अभावों में उसे दुःख होता है। स्वयं में उसके पूर्वकालीन ब्राह्मणों के गुणों का अभाव देख कर वह ग्लानि से भर जाता है। वह उनके पूर्व-गौरव की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। नन्द के

दरबार में कात्यायन के पङ्थं से जब वह अपमानित होता है तो कुशों के समूल नाश के समान नन्द का सर्वनाश कर ही वह विश्राम पाता है। एक बार वह जो प्रतिज्ञा कर लेता है उसे पूरा करता है। ब्राह्मणत्व की भावना का एक ऐसा सम्मिश्रण राय बाबू ने चाणक्य में किया है कि वह इसी भावना का आधार ग्रहण कर मगध में और मगध के बाहर भी एक महान् विप्लव, एक राजनीतिक क्रांति बरने में समर्थ होता है। वह मेधावी कुटिल राजनीति का आश्रय ब्राह्मण एक ओर राज्य में और उसके बाहर साम्राज्य में एवं नन्द के प्रभाव-क्षेत्र में जनता को क्रांति के लिये उत्तेजित करता है। ब्राह्मणों के अधःपतन को अपना शस्त्र बनाता है। दूसरी ओर अन्य राजागणों में वर्ण-भेद की भावना उत्पन्न कर उन्हें नन्द से विमुख करता है। सिकंदर शाह की भविष्य-वाणी चन्द्रगुप्त के भारत-सम्राट् होने का वह प्रचार करता है। वह यह जानता है कि जनता की मनोवृत्ति किस प्रकार की है। वह मनोवृत्ति कैसे उत्तेजित की जाकर उपयोग में लाई जा सकती है। यह उसी के मस्तिष्क की कल्पना थी जिसने एक शूद्र राजा से निराश करा कर जनता को चन्द्रगुप्त के प्रति सद्भाव के लिये प्रेरित किया। तत्कालीन जनता पर उसने अपने बुद्धि-कौशल और विद्वत्ता, राजनीतिक कुशलता आदि के द्वारा अपना गहरा प्रभाव भी स्थापित कर लिया था। इन्हीं कारणों ने चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने का मार्ग साफ कर दिया और इसीलिये चन्द्रगुप्त भी चाणक्य का लिहाज करता दिखाई देता है। वैसे वह भी वीर है, साम्राज्य-प्राप्ति के लिये जी-जान से प्रयत्न करता है। चन्द्रगुप्त (राय) के पढ़ने से चाणक्य के विषय में एक यह धारणा अवश्य घर कर लेती है।

दूसरा जो भाव उठता है वह है प्रतिहिंसा का। नन्द ने उसका केवल अपमान ही नहीं किया था किंतु वह उसके पिता की मृथु का, संपत्ति एवं आजीविका-हरण का भी कारण रहा होगा। इनके अतिरिक्त

संभव है इन्हीं परिस्थितियों के परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष कारण से उसकी पत्नी का देहावसान हुआ हो। कन्या-हरण हुआ हो। इसीलिए यह परिवार हीन ब्राह्मण पागल हो उठा, उसका हृदय अंतिम सीमा तक विचलित हो गया, उसका संसार में कोई न रह गया, मोह न रह गया। इसीलिए नंद वंशोच्छेद के लिए वह उत्कट प्रयत्न कर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है। उसकी प्रेयसी-पत्नी अथवा प्रतिहिंसा बार-बार उसे नंद नाश की ओर प्रेरित करती है। चंद्रगुप्त को सम्राट् बनाना एवं एक महान् साम्राज्य स्थापित करना तो उक्त प्रतिहिंसा का केवल एक अनुगामी कार्य है। इसीलिए वह नंद को मारने के लिए स्वयं उद्यत हो जाता है किंतु उसकी नीति कुशल बुद्धि उसे रोक देती है और कौशल से वह कात्यायन से इस कार्य को करवा लेता है। राजनीतिक कुटिलता और प्रतिहिंसा की भावना उसमें इतनी प्रबल दिखायी देती है कि वह कहीं भ्रुक्ता नहीं, पीछे नहीं हटता। चंद्रगुप्त जब अतृप्त की भावना में बहने लगता है तब वह मुरा को उत्तेजित करता है। उक्त भावना को पीस डालता है। बार-बार कात्यायन को उत्तेजित करता है। पूर्व स्मृतिएँ उसकी हरी करता रहता है ताकि वह भूल न जाय कि नंद ने किस प्रकार भूखों मार-मार कर उसके सात पुत्रों का वध किया। मुरा की भी वह समय-समय पर नंद के अपमान का उसे शुद्ध समझने की भावना का ध्यान दिला-दिला कर उत्तेजित करता है। उसमें समय-समय पर पुत्रत्व की जो भावना जाग्रत होती है उसे उससे ही कुचलवा डालता है। यद्यपि वह स्वयं वृद्ध सम्राट् माता मुरा को मुरा कह कर संबोधन करता, शुद्ध समझता है। मुरा के प्रति जरा भी उसमें आदर नहीं, प्रेम नहीं। वह तो उसके उद्देश्य की एक शक्ति है। उसमें अपना कार्य निकालने के बाद वह उसे तोड़ सकता है, फेंक सकता है, बिना किसी प्रकार के संकोच अथवा दुःख

के । सम्राट् माता हो जाने पर भी उसका यही भाव बना रहता है । यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त के प्रति भी वह इस शूद्रत्व के भाव को दूर नहीं कर सकता । चन्द्रगुप्त में जो उत्कट मातृ भाव है उसकी भी वह अवहेलना सा करता दिखायी देता है । राय में मुद्राराक्षस का चाणक्य मेधावी, नति कुशल घटनाओं का इच्छानुसार प्रेरक चाणक्य नहीं रह जाता है ।

राय महोदय ने यदि चाणक्य का इतना ही चित्र खींचा होता तो उसमें कोई महत्व, किसी महापुरुष के लक्षण नहीं मिल पाते । वह मानव का नहीं एक प्रतिहिंसक मानव के कंकाल का चित्र हुआ होता । किन्तु राय महोदय ने मानवोचित सरस भाव से युक्त भी अन्त में उसे बना दिया है । उसमें पति के प्रेम एवं पिता के वात्सल्य की सृष्टि भी करदी है जिससे न केवल नाटक रोचक, सरस और कल्याणपूर्ण हो गया है किन्तु चाणक्य का चरित्र भी मानवी और उज्ज्वल हो सका है ।

यौवन काल की उसकी पत्नी की चिरस्मृति, उसकी कन्या जो उससे एक युग से बिलुप्त गयी थी, जिसका संताप उसको सदैव कचोटता रहा, जिसकी स्मृति और अभाव ने उसे बठोर, प्रतिहिंसक, क्रूर, अदयावान बना दिया था; वह उसे प्राप्त हो जाती है । उसे ऐसा मालूम पड़ता है जैसे उसे पुनः अपनी आत्मा प्राप्त हो गई है । उसका ब्राह्मणत्व, ब्राह्मणत्व की साधना, तप, बल, क्षमाशीलता, अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति पुनः प्राप्त हो गई हो । उसकी इस मनोवृत्ति का परिचय हमें तब मिलता है जब वह इतने बड़े साम्राज्य में सम्राट् से भी अधिक प्रभावशाली होते हुए भी, मंत्री-पद निस्पृह भाव से कात्यायन को सौंप देता है और अपनी कन्या को लेकर संसार के वैभवों, ऐश्वर्यों, प्रभुता, सम्मान सम्पत्ति आदि को ठुकरा कर पुनः तपोवन को, कुटीर को, एकाकी बन कर लौट जाता है । इतनी बड़ी कान्ति कर, चन्द्रगुप्त को

सम्राट् बनाकर भी उसे ज्ञात होता है जैसे उसने कोई भूल की है । उसने कुछ किया ही नहीं है । वह तो अब फिर एक संतोषी, साधारण ब्राह्मण ही है । यही उसकी महत्ता और विशेषता है जिसने राय के चाणक्य को भौंडा रूप देने से बचा लिया है ।

सेल्यूकस की कन्या का चन्द्रगुप्त से विवाह वाली ऐतिहासिक घटना का सांस्कृतिक सम्मिलन, विश्व-प्रेम की भावना, एवं भारतीय महत्त्व के चित्रांकण की सृष्टि ने भी चाणक्य के चरित्र को उतना कुरूप होने से बचा लिया है; उपमें एक उच्चादर्श और भावना की सृष्टि कर दी है ।

चंद्रगुप्त का चरित्र अवश्य मुद्राराक्षस से कहीं श्रेष्ठतर है । मुद्राराक्षस का चंद्रगुप्त चाणक्य के हाथ का कठपुतली सम्राट् है, शासन में जिसकी कोई आवाज नहीं है । साम्राज्य का मस्तिष्क चाणक्य है और हाथ-पाँव चंद्रगुप्त । किंतु 'चंद्रगुप्त' नाटक में चंद्रगुप्त एक वीर, योद्धा, शासन-सूत्रों का संचालक है । वह मातृप्रेम और यौवनोचित सरस-भावनाओं एवं आतृप्रेम के भाव से भी समन्वित है । चाणक्य का समान रूप से कार्य करनेवाला सहयोगी है । केवल ब्राह्मण होने के कारण, विद्वान्, मेधावी, उसकी साम्राज्याकांक्षा में सहायक होने, सम्मति देने एवं उसके लिये जनता को जाग्रत, संघटित और पक्क करने के लिये उसे गुरुत्व मानता है । दोनों के समान उद्देश्य होने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय, मस्तिष्क और शरीर का संयोग हो गया है ।

इसी प्रकार चन्द्रकेतु और छाया, जो एक पहाड़ी राजा की कन्या है, के चरित्रों को चित्रित कर राय महोदय ने दो महत् चरित्रों, दो महत् और सुन्दर भावनाओं, दो आत्मत्यागी वीरों, दो सच्चे सहायकों और साधकों की सृष्टि की है । इन दो चरित्रों ने नाटक की मूल भावना को आदर्श को, कला को अत्यन्त ही उज्ज्वल और निखरे रूप में रख दिया

है। ऐसे ही महत् चरित्रों की सृष्टि के कारण राय के कई नाटक एवं चरित्र-चित्रण संबंधी दोष दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और प्रेक्षक के ऊपर एक अनिर्वचनीय प्रभाव डालते हैं।

हेलेन का चरित्र भी बड़ा ही सुंदर और भव्य बन पड़ा है। वह यूनानी बालिका न केवल सुशिक्षिता कन्या ही है किन्तु विदुषी भी है। आध्यात्मिक विचारोंवाली है। इतना ही नहीं चन्द्रगुप्त से विवाह करके वह आदर्श विश्व-प्रेम एवं तत्कालीन महान् संस्कृतियों के समन्वय का परिचय देती है। उसमें ही जैसे यूनानी और भारतीय संस्कृति एक आकर समागई हैं। वह अपने पिता सेल्यूकस को चाहती है। उसके लिये सब कुछ त्याग करने को तत्पर हो जाती है। पिता को दुखी देख कर एंटीगोनस से विवाह करने को तैयार हो जाती है। छाया की सपत्नी बनकर भी वह प्रसन्न होती और स्त्री दुर्लभ त्याग का परिचय देती है। इतने दूर देश में आकर उस समय यहाँ मिल जाना भी उसकी एक विशेषता है। रॉय ने उसका चरित्र भी इसी तरह चित्रित किया है कि जैसे वह भविष्य में चन्द्रगुप्त से होने वाले विवाह की तैयारी कर रही हो, उसका भारतीय प्रवृत्ति आध्यात्मिकता की ओर झुकी हुई है। वह अध्ययनशील है। दार्शनिक विचारोंवाली है। भारतीय संस्कृति और आदर्श उसे प्रिय हैं। साथही चन्द्रगुप्त के दर्शन या मिलन के पश्चात् उसमें उसके प्रति प्रेमाङ्कुर उग आते हैं सेल्यूकस की भारत-विजय को वह शंका की दृष्टि से देखती है। भारत पर उसकी चढ़ाई के विजयोन्नास के स्थान पर उसे प्रसन्नता नहीं, एक हार्दिक दुःख होता है। सेल्यूकस की चन्द्रगुप्त से अपमानजनित संधि हो जाने पर उसे न दुःख होता है और न सुख। वह कहती है परिणाम वही हुआ जो होना था। सेल्यूकस की विजय-लालसा का पूर्ण न होना एवं दो महत् सभ्य जातियों का संपर्क में आना उसे सुख देता है।

सेल्यूकस और मुरा का (इसी प्रकार कात्यायन का भी) चित्रण ठीक नहीं हुआ। त्रुटिपूर्ण और अधूरा है। अस्वाभाविक है। चन्द्रगुप्त नाटक में सेल्यूकस और पुण्टीगोनस की कथावस्तु भी अनावश्यक और अत्यधिक रूप से प्रयुक्त हुई है जिसका बहुत कम संबंध नाटक की मुख्य घटनाओं से है। समान रूप से दो विभिन्न कथा-वस्तुएँ चलती हैं। कभी-कभी क्षण भर को मिला जाती हैं और फिर बहुत दूर हट जाती हैं। हाँ, वातावरण दोनों में अवश्य भारतीय है।

सभ्यता की चोटी पर पहुँचा हुआ सम्राट्-सेल्यूकस जितना वीर है उससे अधिक वह राज्य-लोलुप है। सिकंदर की भारत-विजय की इच्छा को वह पूरा करने की महत्वाकांक्षा रखता है किंतु उसे मुँहकी खाना पड़ती है। उसके एवं उसकी पुत्री हेलेन के संभाषण से ऐसा प्रतीत होता है कि वह विद्वान् नहीं, एक कारा सैनिक या सेनापति ही था। हेलेन बार-बार उसकी त्रुटिएँ दिखा कर लज्जित करती है। कभी-कभी तो वह अपने को अपमानित अनुभव करने लगता है। चिढ़ जाता है। सैद्धांतिक दृष्टि से उसमें और हेलेन में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक रण-पिपासु है तो दूसरी रण-विरक्ता। दोनों में कई बार विवाद भी उठ खड़ा होता है। फिर भी वह मातृ-हीन हेलेन को प्यार करता है और उसके द्वारा प्यार प्राप्त करता है। किंतु वे मिलते हुए नहीं दिखाये गये हैं। उनका चित्रांकण ही ऐसा हुआ है जैसे दो विरोध शक्तियों में संघर्ष चल रहा हो। कहलवाना तो राय यही चाहते हैं कि वे एक-दूसरे को प्यार करते हैं, घटनाओं की भी ऐसी सृष्टि की है जिसमें एक का दूसरे पर प्यार प्रकट हो किंतु कथोपकथन एवं वस्तु-विन्यास से उल्टी अनुभूति होती है। वे यदि क्षण भर को मिल जाते हैं तो न केवल विचारों में किंतु क्रिया-कलापों में भी दूर-दूर होते जाते हैं।

एन्टीगोनस की यह खोज कि सेल्यूकस ने उसकी माता को त्याग दिया और वही उसका पिता है यह भी एक दोष का उद्भव उसमें अकारण कर जाती है जिसका सम्बन्ध भटकती कथा-वस्तु से कुछ भी नहीं है।

मुरा के चरित्र में एकरसता नहीं। शायद वे नारी की एक प्रबल प्रवृत्ति का प्रकटीकरण करना चाहते हैं। स्त्रियों में साधारणतया किसी के द्वारा शीघ्र ही प्रभावित हो जाने का स्वभाव पाया जाता है। वे अस-हाय अबलाएँ मनुष्य के विश्वास, साहस, प्रोत्साहन पर, आवेश में सर्वस्व तक न्योछावर कर देती हैं और फिर जीवन भर पश्चाताप की आग में जलती रहती हैं। मनुष्य उन्हें अपने स्वार्थ का साधन बना ठुकरा देता है। नारी कितनी बड़ी ही क्यों न हो? वह धनिक पत्नी, उच्च पदाधिकारी की पत्नी अथवा सम्राट्-पत्नी ही क्यों न हो? नारी होने के नाते बड़ी ही हेय, तुच्छ है। वे लुभा ली जातीं, हरी जातीं, उनका सर्वस्व लूटा जाता है, उन्हें धोखा दिया जाता है, उनके स्वत्व छीने जाते हैं, उनमें मस्तिष्क-शक्ति का अभाव समझा जाता है। वे माता और सहगामिनी, अर्द्धांगिनी होकर भी निम्न-स्थिति में निवास करने के लिये बाध्य की जाती हैं। नाम होता है पुरुष का, पुत्र का, पिता का। कन्या, पत्नी या माता को कहीं स्थान नहीं। अस्तित्व नहीं। धन-सम्पत्ति पर अधिकार नहीं। जब तक भोजन हो खालो, कपड़े हों पहनलो, इसके बाद उसका जीवन कुछ नहीं। यही तो है न नारी। संसार-ज्ञान से शून्य होने के कारण; निर्बल होने के कारण, भावुक, उदार होने के कारण, कठोरता, क्रूरता, अदयनीयता आदि गुणों के अभावों के द्वारा दुःख सहा करती है। मुरा की स्थिति ऐसी ही रही। सम्राट्-पत्नी होकर वह शूद्र रही। सम्राट्-माता होकर भी वह शूद्र ही रही। उसकी कहीं कोई आवाज नहीं रही। चाणक्य ने उसे अपने कार्य-

साधन का यंत्र तो बनाया किंतु उसे मुरा (!) के अतिरिक्त एक भी आदर का शब्द नहीं कहा। राय महोदय मेरे ख्याल से करना तो शायद नारी के इसी रूप का चित्रण चाहते थे किंतु उनसे वैसा वह उतर न सका है, विकृत हो गया है। मुरा में स्वाभिमान-रहित हीन भाव है। महत्वा-कांक्षा का अभाव है।

राय के पात्र बालकों का-सा अभिनय करते हैं। उनमें प्रौढ़ावस्था-जन्य गम्भीरता का प्रायः अभाव पाया जाता है। कथावस्तु एवं कथोप-कथन से नन्द का राज-दरबार भाँड़ों की क्रीड़ा-स्थली अधिक दिखाई देता है। राज-समाजोचित व्यवहार एवं बोलचाल का भी राय महोदय को ज्ञान नहीं था। इस कथन की पुष्टि वाचाल के चरित्र से हो जाती है।

चन्द्रगुप्त की कथावस्तु और पहिले से प्रारम्भ होती है और राय के समान ही इसका भी प्रथम दृश्य सहसा आकर्षित करनेवाला है। प्रथम

दृश्य से ही प्रेक्षक का ध्यान बड़े ही सुन्दर ढंग से

चन्द्रगुप्त

ले—प्रसाद

अभिनय की ओर खिंच जाता है और वह नाटक के विषय में निश्चयपूर्वक अच्छी धारणा बना सकता है।

कथावस्तु का प्रवाह भी उतना ही आकर्षक, सुन्दर, कलात्मक और सुप्रबंधित है। राय की कथावस्तु से प्रसाद की कथावस्तु एवं पात्र भी अधिक हैं। राय को पढ़ने समय ऐसा ज्ञात होता है कि वे पात्रों का चित्रण कथासामग्री के अभाव में यथोचित नहीं कर पाते हैं और केवल स्वतंत्र प्रतिभा के बल पर ही पात्रों एवं उनके चरित्रों की सृष्टि करते चले जाते हैं। किंतु प्रसाद को पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होता है जैसे प्रसाद के मस्तिष्क में विचारों का एक सुव्यवस्थित और घना समूह हो। इतने विचार हैं उनके पास; इतनी कथावस्तु है कि वह नाटक की छोटी सीमा से बाहर निकल-निकल पड़ती है। इधर प्रसाद ने कथावस्तु का काल (समय) की अवधि भी राय से

अधिक लम्बी ली है। राय के चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि पात्र प्रौढ़-वयस्क हैं किंतु प्रसाद के पात्र चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि राय से बहुत ही कम उम्र के हैं। चाणक्य ने विद्यालय छोड़ा ही था। चंद्रगुप्त सिंहरण छात्र ही थे। ऐसा स्थिति में कथावस्तु का प्रारम्भ होता है। अंत दोनों ने प्रायः एक समान ही रखा है; उसे नंद-बन्ध के बाद की घटनाओं तक, जिसका एक आधार मुद्राराक्षस भी है, खींचा है। किंतु प्रसाद ने राय से कुछ अधिक विस्तार दिया है। वास्तव में यदि देखा जाय तो तीसरे अंक के अन्तिम दृश्य पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रसाद अब नाटक का भी अन्त कर दोगे, किंतु वे उसे चौथे अङ्क तक खींच ले गये हैं; अर्थात् अभिनय का एक तिहाई भाग उन्होंने बढ़ा दिया है। अभिनयकर्ता यदि तीसरे अङ्क तक का ही अभिनय करें तो वे चंद्रगुप्त का सुंदर अभिनय कर सकते हैं ! अवधि भी जितना चाहिए उतनी ही लगेगी। ऐसा कभी अनुभव नहीं हो सकता कि कुछ कथावस्तु छूट गई है या अधूरी रह गई है। किंतु जितनी वेगवती विचार-धारा प्रसाद के मस्तिष्क में लहरा रही थी उसके अनुसार शायद उनकी शक्ति से बाहर था कि वे कथा को आगे न बढ़ाते। प्रसाद के विशाल अध्ययन, उच्चकोटि की कल्पनात्मक प्रतिभा, एवं उनके हृदय के कोमल गुम्फन ने उन्हें पात्रों की संख्या बढ़ाने के लिये भी बाध्य कर दिया। इसलिये उनकी भाव लहरी, विचार-धारा, चरित्र-चित्रण, समरस, व्यवस्थित होते हुए, सुंदर कलात्मक होते हुए भी अभिनय-कला की दृष्टि से अधिक हो गये हैं; अर्थात् अभिनय करने में अधिक समय की आवश्यकता होगी। यदि हिंदी में स्टेज का अभाव न होता तो चंद्रगुप्त की सामग्री से प्रसाद ने दो सुंदरतम नाट्यकृतिएँ हिंदी संसार को भेंट की होतीं।

दूसरी बात राय और प्रसाद को पढ़ते समय जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह यह है कि राय के दोषों का समुचित निराकरण

प्रसाद ने कर दिया है। 'बीणा' के एक लेखक की एक भ्रांत धारणा ने जो शायद उसने प्रसाद के नाटकों को बिना देखे ही—हिंदी नाट्य-साहित्य का भी जिसका अध्ययन प्रारम्भिक अवस्था में है—कुठाराघात किया है। उक्त लेखक का कथन कि हिंदी में राय के समान नाटक लेखक नहीं है नितांत त्रुटिपूर्णता, एकांगीपन और अविचारता प्रकट करता है। प्रसाद की कथा अधिक रोचक, व्यवस्थित, संतुलित चरित्र-चित्रण पूर्ण, समरस, उच्च और उनके मनोनुकूल है। पात्रों की भाषा, बोलने का ढंग, विचार प्रकट करने की शैली उत्तम, विशद, ग्राह्य और नाटकोपयोगी है। अभिनय में आये हुए स्थानों का वर्णन, उनके संबंध के कथानक यथातथ्य और इतिहास प्रमाणित हैं तथा यह प्रकट करते हैं जैसे उसी समय का चित्र हम देख रहे हैं। राय में ये बातें नहीं। उनके चित्र आधुनिक से लगते हैं। प्रसाद के पात्र सभा, दर्बार किसके सामने कैसे बोलना आदि के नियमों से परिचित हैं किंतु राय के पात्र अपरिचित।

प्रसाद के चन्द्रगुप्त पर विचार करते समय उनकी कतिपय मूल-प्रवृत्तियों पर विचार करना आवश्यक है। ये प्रवृत्तिएँ प्रसाद में क्या काव्य, क्या कहानी और उपन्यास, क्या निबंध तथा नाटक में सर्वत्र पाई जाती हैं। इन्हीं के कारण प्रसाद प्रसाद हैं और इन्हीं के सर्वत्र प्रयोग के द्वारा अथवा स्वभावतः प्रविष्ट हो जाने के कारण जहाँ उनकी रचनाओं में काव्यत्व, स्थायित्व प्रायः चरम कोटि का मिलता है वहाँ विभिन्न क्षेत्रों की कलात्मकता का अवश्य कुछ न कुछ हास हुआ है। इन्हीं के कारण उनका काव्य एवं काव्य-गत सौंदर्य अवश्य अंतिम सीमा पर पहुँच गया है किंतु उपन्यासों, कहानियों एवं नाटकों के क्षेत्रों में इन प्रवृत्तियों ने प्रसाद को न तो उनके टेक्निक का ध्यान रखने दिया और न वह उच्चकोटि की कलात्मकता का दिग्दर्शन कराने दिया जिनसे उक्त

विषयों की विशेषता प्रकट होती है। चंद्रगुप्त में भी ये ही प्रवृत्तिएँ प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं किंतु अन्य रचनाओं से बहुत कम। इसलिये चंद्रगुप्त का स्थान नाटकीय रचनाओं में श्रेष्ठतम माना जाना चाहिए।

प्रसाद की काव्य प्रवृत्ति सर्वत्र और प्रमुख रूप से प्रविष्ट हो जाती है। हमारा ख्याल है प्रसाद उसे रोकने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं; इतनी प्रबल है यह प्रवृत्ति। उनका कवि प्रत्येक स्थल पर सजग रहता और बल पूर्वक अपना उच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। इसीलिये प्रेक्षक के ध्यान का नाटकीय कथावस्तु की अपेक्षा उसके गीत-जन्य संगीत एवं काव्य की ओर सहसा आकर्षित हो जाना सरल और संभव है। उनके गीत इतने काव्यपूर्ण, मनोरम, सरस, प्रवाहयुक्त, आकर्षक एवं भावयुक्त हैं कि बरवश हमारा ध्यान उनमें तल्लीन हो जाता है। न केवल कथावस्तु किंतु प्रेक्षक स्वयं अपने को भी भूल सकता है। काव्य की यही प्रवृत्ति गद्य या कथोपकथनों में भी दृष्टिगोचर होती है। काव्य और दर्शन का इतना सुन्दरतम सामंजस्य और इतने प्रमाण में यह केवल प्रसाद की अपनी विशेषता है। और न केवल भारतीय अपितु विश्व-साहित्य के श्रेष्ठतम अमर साहित्यिकों एवं कलाकारों में उन्हें उचित स्थान अवश्य दिलायेगी।

इस कलाकार की अध्ययन और दर्शन की प्रवृत्ति ने कला और साहित्य का अप्रतिम उपकार किया है। इसीलिये प्रसाद की रचनाओं में न केवल उनकी प्रतिभा का दिग्दर्शन होता है किंतु उनके अध्ययन और दर्शन के सारतत्त्व का भी जो कि काव्य के साथ मिलकर अमरता और चिरस्थायित्व की सृष्टि करता है यद्यपि वास्तवतः वह कुछ अंशों में टेक्निक एवं वाह्य आवरण के विरुद्ध प्रतीत होता है। प्रसाद की यह भी एक महती विशिष्टता है कि अध्ययन और दर्शन सीधे उनकी

रचनाओं में नहीं आये हैं। ये कला को आगे रखकर उसके पीछे से अपना कार्य करते हैं। वे कला के मुँह से बोलते हैं; कला उनके आदेश पर अपना पैर बढ़ाती है, किन्तु वे कला के इतने निकट स्थान-स्थान पर आ गये हैं कि पाठक, प्रेक्षक अथवा कला प्रेमी पर, कलाविद पर प्रकट भी हो जाते हैं। यहाँ प्रसाद दोषी है। कला-प्रदर्शन के समय जिस संयम की, निग्रह की पृथक् रह कर काम करने की अविचार्य आवश्यकता होती है उससे च्युत हो जाते हैं। उनकी कतिपय रचनाओं में तो यह प्रवृत्ति इतनी आगे आ गई है कि कला और इसमें भेद करना कठिन हो जाता है। चन्द्रगुप्त में वे कहीं अधिक दूर हैं।

चन्द्रगुप्त पर विचार करते समय तीवरी बात उनमें शृंगारिक भावनाओं का होना है। प्रसाद ने 'स्त्री-हृदय' पाया है। उनके नर-शरीर के रोम-रोम में नारी व्याप्त है। मेरे कहने का आशय यह है कि स्त्री-उचित कोमल, सरस, भावुक भावनाएँ उनमें सिर से पैर तक ओत-प्रोत हैं। इतनी सरस, इतनी कोमल भावनाएँ, भाव लहरिणें उनमें प्राप्त होती हैं कि उन्हें स्त्री-हृदय कहने के अतिरिक्त शब्द नहीं मिलते कि मैं अपने को स्पष्ट कर सकूँ। एक सुन्दरतम नारी की कल्पना कीजिये जो सर्वगुण-संपन्न भी है। प्राचीन शास्त्रज्ञों ने पद्मिनी की कल्पना की थी जिसमें वे अपने भाव प्रकट कर दिया करते थे। उसमें जितनी सुन्दरता एवं गुण हो सकते हैं वे सब प्रसाद की रचनाओं को विशिष्टताएँ हैं।

इसी के अंतर्गत प्रसाद की शृंगारिक भावनाओं का स्थान है। शृंगार से मेरा आशय संयोग एवं विप्रलम्भ दोनों से है। शृंगार को रसराज कहते हैं। यह कथन सकारण है और प्रसाद की रचनाएँ इसकी प्रमाण हैं। मानव-जीवन शृंगारिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। सब

तत्व है जिससे दुःखी, संतप्त-संग्रस्त-पीड़ित विश्व कुछ सांत्वना प्राप्त करता है। वीर-गाथा-काल में भी जब वीर भाव सर्वोपरि और व्यापकता तब भी इसी शृंगार का आधार ग्रहण कर वीर भावों को प्रश्रय दिया जाता था। इसी के समान दूसरा रस करुण है। काव्य और साहित्य में करुण एवं शृंगार के सम्बन्ध में काफी विवाद विद्यमान रहा है। मेरी दृष्टि में अपने-अपने स्थान पर दोनों रस श्रेष्ठ तम हैं। प्रसाद तो करुणा का कलाकार है। प्रसाद की करुणा करुण रस के अन्तर्गत आने के साथ विप्रलम्भ-शृंगार की शृंगार भी है। इस महान्, सर्वतोमुखी प्रतिभा के दार्शनिक कवि ने शृंगार और करुणा का इतना सामंजस्य किया है कि उसका एक पृथक् स्थान मान लेने के लिये हमें बाध्य होना पड़ेगा। पाश्चात्य उच्छकोटि के लेखकों एवं कवीन्द्र रवीन्द्र में भी शृंगार, करुण और सर्वतोमुखी प्रतिभा मिलती हैं किन्तु पृथक्-पृथक्, सुन्दर सामंजस्य केवल प्रसाद में। कभी-कभी हमारे मस्तिष्क में यह विचार उठता है कि प्रसाद का अनुकरण उनके समय में क्यों नहीं हुआ। अनुकरण की चेष्टा तो अवश्य हिंदी साहित्य में दिखायी देती है किन्तु व्यापक प्रवृत्ति नहीं। नव साहित्यकारों ने या तो अनुकरण ही नहीं किया है और यदि किया है तो असफल। हाँ इतना मेरा विश्वास है कि प्रसाद का अनुकरण होगा, अवश्य होगा, किन्तु एक समय बाद जब कि हिंदी साहित्य काफ़ी प्रौढ़ हो जायगा। आज भी इसके प्रारम्भिक चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं। प्रसाद हिंदी भाषा की अब तक की प्रौढ़ता से काफी ऊँचे उठ गये थे। और इसीलिए उनका अनुकरण कम हुआ।

प्रसाद के नाटकों में भी यही शृंगारिक भाव अर्थात् पुरुष और स्त्री में, तरुण और तरुणी में तरुणावस्था के प्रथम सोपान पर जो सहज भाव एक दूसरे को एक में मिलाने के, आकर्षित करने के उठते हैं, एक दूसरे में समानाने के, तल्लीन हो जाने की तरंगें उन्हें उद्बलित करती

रहती हैं और जो भाव प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में परिपक्व हो स्थायित्व प्राप्त करते हैं, सच्चे और शुद्ध प्रेम को संचार करते हैं वे प्रसाद में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

मुद्राराक्षस और रॉय के चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त का चरित्र उपेक्षित सा ही रहा है, उसकी न तो विशद व्याख्या ही मिलती है और न उसमें मानवत्व या वीरत्व के भाव ही। मुद्राराक्षस में यदि उस पर ध्यान नहीं दिया गया तो वह खटकता अवश्य है किंतु नाट्यकार को जिस द्वन्द्व को दिखाना अभीष्ट है उसके लिए आवश्यक नहीं। इसलिए वह क्षम्य है, किंतु रॉय में चन्द्रगुप्त की अवहेलना उपेक्षणीय नहीं। इस दृष्टि से प्रसाद के चन्द्रगुप्त का चरित्र-चित्रण अत्यन्त ही उत्तम हुआ है। किसी भी चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त-पात्र को जितना स्थान दिया जाना चाहिए और उसका चित्रण किया जाना चाहिये इसका ध्यान प्रसाद को बराबर था, इसलिए उनके नाटक में चन्द्रगुप्त का भी चाणक्य के समान ही एक विशिष्ट स्थान है। इसमें प्रधान पात्र चाणक्य नहीं किन्तु चन्द्रगुप्त ही है और उसी के अनुरूप उसका चरित्र चित्रण हुआ है। चाणक्य उसका महत्वाकांक्षाओं एवं उद्देश्यों का पूर्ति का समान सहयोगी है क्योंकि उसकी भी अपनी महत्वाकांक्षाएँ और उद्देश्य हैं।

चन्द्रगुप्त एक वीर और उत्साही युवक है और उसमें ये भाव अंत तक बने रहते हैं। चाणक्य के रूष्ट होजाने पर भी उसमें बने रहते हैं। इससे यह सूचित होता है कि ये भाव स्थायी और स्वतंत्र रूप से थे, न कि चाणक्य के प्रोत्साहन आदि के द्वारा। इसी प्रकार उसमें स्वतंत्र बुद्धि का अभाव भी नहीं है। प्रसाद ने इस नाटक में न केवल वीरोचित किंतु राजवंशोचित कोमलता का दिग्दर्शन भी कराया है जो उसकी दबलता का चिह्न नहीं बल्कि राजकुमारोचित

कोमलता है। इस घटना की सृष्टि के द्वारा चंद्रगुप्त के चरित्र की पूर्णता होती है। मगध त्यागकर चाणक्य और चंद्रगुप्त शायद पंचनंद के वन-प्रांत में से चले जा रहे हैं। कशेरवती तपस्वी चाणक्य न तो थकता ही है। और न उसे प्यास की बाधा ही सताती है किंतु चंद्रगुप्त थक जाता है। उसे प्यास बेहोश कर देती है। यद्यपि चाणक्य उसका गुरु है। उने वह सम्मान की दृष्टि से देखता है किंतु पानी के लेने के लिये उसे ही जाना पड़ता है। इस समय उनमें गुरु शिष्य का संबंध नहीं बल्कि पिता पुत्र का या संबंध और प्रेम पाया जाता है।

यहाँ उसमें मानविक और राजसिक कोमलता है। चंद्रगुप्त का चित्रण एक युवक की दृष्टि से भी ठीक उतरा है। उसका कार्नेलिया की ओर आकर्षित होने लगना प्रेम की प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है। युवावस्था के इस प्रारंभिक प्रेम का सूक्ष्म निदर्शन प्रसाद ने बड़े ही सुन्दर ढंग से चंद्रगुप्त में किया है। प्रारंभ में प्रेम का एक केवल आभास होता है। एक छाया, एक भाव होता है और वह भी अस्पष्ट, एक सहज आकर्षण के रूप में। शनैः शनैः यह भाव परिपुष्ट होता जाता है और अन्त में चंद्रगुप्त तथा कार्नेलिया का विवाह अस्वाभाविक, खटकनेवाला अथवा वर वधू में से किसी को अहितकर प्रतीत नहीं होता। कार्नेलिया का भारत से पूर्व परिचय के द्वारा यह बात भी नहीं खटकती कि संसार के उस काल में एक यूनान निवासिनी बालिका किस प्रकार अति सुदूर मगध में सुखपूर्वक रह सकेगी, इस भाव का विकास भी योग्य, स्वाभाविक और सुन्दर है।

कल्याणी एवं मालविका का प्रेम भी चंद्रगुप्त के साथ गूँथकर प्रसाद ने इस अवस्था जनित स्वाभाविकता का सृजन किया है। अविवाहित अवस्था में प्रायः ऐसा ही होता है। प्रेम विभिन्न व्यक्तियों में अंकुरित होता ही रहता है। चंद्रगुप्त मालविका को भी चाहने लगा

था और कल्याणी का तो उससे बचपन का प्रेम था ही वही युवावस्था में तरुणार्द्ध के प्रेम में परिणत हो गया । ✓

चन्द्रगुप्त मातृ-पितृ-भक्त भी अवश्य है । उनके प्रति उसमें प्रेम-भाव है, कर्तव्य की प्रेरणा है किंतु इस भाव का सर्वथा उचित दिग्दर्शन शायद इसीलिये नहीं हो पाया कि प्रसाद का अभीष्ट चाणक्य के चित्रण की पूर्णता है और चन्द्रगुप्त की सब ही बातों का चित्रण नाटक की सीमित सामग्री के अनुपयुक्त होता । किंतु उसके माता-पिता की सृष्टि कर उसमें योग्य शासक के कर्तव्य को सर्वोपरि दिखाने की चेष्टा संक्षेप में की गई है । ✓ चाणक्य के कार्यों से रुष्ट होकर वे चले जाते हैं । चन्द्रगुप्त क्षुब्ध तो हो उठता है किंतु परिस्थितियों और चाणक्य के प्रभाव के कारण विवश हो जाता है और उसकी विवशता का यही भाव उसमें सदा बना रहता है । कर्तव्य परायणता का दिग्दर्शन तो हमें उस समय होता है जब से मौर्य-सेनापति—चन्द्रगुप्त-पिता दाण्ड्यायन के आश्रम में चाणक्य का वध करना चाहते हैं और असफल होते हैं । चन्द्रगुप्त-शासक के रूप में उनके साथ उचित न्याय करना चाहता है ।

वीरता का दिग्दर्शन तो कई स्थानों पर हुआ है किंतु फिलिप्स को द्वन्द्व में मारकर एवं चाणक्य और सिंहरेण्य आदि के त्याग देने पर सेल्यूकस से युद्ध में सामना करते समय जो उसके भाव प्रदर्शित हुए हैं, जिस वीरता से वह लड़ा है वह उसके योग्य है । चाणक्य को उसका पूरा सहाय्य रहा है । उसका मस्तिष्क उसके साथ रहा है किंतु उसमें भी बुद्धि, चातुर्य, रण-कुशलता एवं वीरता भी, सम्राट् होने योग्य क्षमता थी । सम्राट् होने योग्य इसी क्षमता-प्रदर्शन के कई अवसर प्रसाद लाये हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त केवल चाणक्य की कृपा से ही सम्राट नहीं हो गया था जैसा मुद्राराक्षस या राय के चन्द्रगुप्त में प्रकट

होता है और इसी ऐतिहासिक तथ्य का दिग्दर्शन जिसका साहित्य में प्रायः समुचित निदर्शन नहीं हो पाया था, प्रसाद ने किया है ।

प्रसाद चंद्रगुप्त द्वारा एक प्रवाद का और खंडन करना चाहते हैं । वह है उसके सम्बन्ध का नीचजन्मा होना । इसका खंडन उन्होंने भूमिका में भी किया है जो तर्कयुक्त है । इसी का दिग्दर्शन संक्षेप में चाणक्य द्वारा किया जाता है । पर्वतेश्वर पहिले तो चंद्रगुप्त की इसलिये अवहेलना करता है कि वह शूद्र है किंतु चाणक्य—ब्राह्मण—उसे उसकी विभिन्न अवसरों पर की गई वीरताओं के प्रदर्शन से यह सिद्ध कर देता है कि वह क्षत्रिय कुलोत्पन्न है और इसीलिये सम्राट होने योग्य है । पर्वतेश्वर की यह शंका उस समय ही नहीं रही होगी किंतु जनता में भी इसी कारण उसका विरोध हो सकता था । इसी का निवारण चाणक्य ने बड़ी ही कुशलता और सरलता के साथ किया है । चंद्रगुप्त के सम्राट होने के मार्ग की बाधाओं के साफ करने का कार्य चाणक्य बराबर करता रहा है और उसके लिये ऐसा वातावरण तैयार करता रहा है ताकि एक व्यवस्थित शासन को हस्तगत करने में उसे सुविधा हो । चाणक्य ही निस्पृह भाव से चंद्रगुप्त के लिये मगध में यह महान् क्रांति उपस्थित कर सका । इन्हीं कारणों से हमारी शंकाओं का समाधान हो जाता है कि चाणक्य के समक्ष न केवल गुरुत्व के सम्बन्ध से किंतु इस कारण भी चंद्रगुप्त नत हो जाता था, विवश हो जाता था और उसकी सम्मति मान लेने के लिये बाध्य हो जाता था । उसका यह सौभाग्य था कि चाणक्य सा मेधावी, नीति-कुशल, निस्पृह, दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ उसका सहायक था जिसके प्रभाव से साम्राज्य अथवा चंद्रगुप्त की कोई हानि नहीं हुई ।

इसी वीरता के प्रदर्शन के लिये चाणक्य ने पर्वतेश्वर से अन्त में कहला लिया कि चंद्रगुप्त क्षत्रिय है और उसका प्रमाण सम्राट होने के

पहिले उसने यह दिया कि उसने लुद्रकों और मालवों की सम्मिलित सेना का सफलता के साथ नेतृत्व ग्रहण कर विश्व-विजयी अलक्षेन्द्र के भी छक्के छुड़ा दिये ।

चंद्रगुप्त में खटकनेवाली बात है उसके 'सहसा प्रवेश' । 'सहसा प्रवेश' का प्रयोग प्रसाद करते हैं चंद्रगुप्त की वीरता प्रदर्शित करने के लिये । इसलिये भी कि चंद्रगुप्त केवल कोरा सम्राट या चाणक्य के हाथ का खिलौना नहीं था । उस पर अवलंबित रहनेवाला या उसकी बुद्धि से काम लेनेवाला सम्राट ही नहीं था प्रत्युत स्वयं भी वीर, साहसी, क्षत्रियोचित गुण-सम्पन्न था; शूद्र कुलोत्पन्न क्षत्रियोचित वीरता से रहित नहीं था । किंतु इस वीरता प्रदर्शन के लिये उसका प्रत्येक स्थान पर कूद पड़ना सर्वथा अस्वाभाविक हुआ है । सिंहारण और आभीक का द्वंद्व होना चाहता है । चंद्रगुप्त आ कूदता है । स्वयं सिंहारण यद्यपि इतना समर्थ था कि उसके आघात-प्रत्याघात को संभाला सकता था । किंतु हमसे यह सूचित होता है कि सिंहारण शक्ति में आभीक से कम था । इसी प्रकार कल्याणी के उपवन में सिंह का आ कूदना और चंद्रगुप्त का उमे मार गिराना भी स्वाभाविक नहीं यद्यपि आज से डेढ़ सौ, दो सौ वर्ष पहिले के लेखकों की रचनाओं के समान रोमांचक अवश्य है, क्योंकि यहीं से प्रसाद चंद्रगुप्त और कल्याणी में युवा-युवती जन्य प्रेम का भाव जो बालपन में सहज बालोचित था, परिणाम में परिवर्तित होता हुआ दिखाते हैं । इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर चंद्रगुप्त का प्रवेश खटकनेवाला है । चाणक्य बंदी है । राजस और कात्यायन उमे फुसला कर विरोध छोड़ने एवं नंद का पक्ष ग्रहण करवाने की चेष्टा में बंदीग्रह में पहुँचते हैं । वहाँ भी कहीं से चंद्रगुप्त पहुँच जाता है और बंदी चाणक्य को मुक्त करता है । इसी प्रकार दाण्ड्यायन के आश्रम में जब सिकंदर चंद्रगुप्त आदि बातचीत कर रहे हैं उसी के सिलसिले में अन्त में कात्यायन का यह कथन "अलक्षेन्द्र,

सावधान !—(चंद्रगुप्त को दिखा कर) देखो यह भारत का भावी सम्राट तुम्हारे सामने बैठा है' अस्वाभाविक है ।

पर्वतेश्वर आत्मघात करना चाहता है और चाणक्य सहसा प्रवेश करता है । जहाँ पहले से जिस पात्र की आवश्यकता होती है वहाँ वह उपयुक्त अवसर पर, 'सहसा प्रवेश' द्वारा उपस्थित हो जाता है । अलका-सिंहरण के विवाहोत्सव के समय न मालूम कहाँ से कन्यादान करने के लिये मगध नरेश आ उपस्थित होते हैं । नन्दसुवासिनी को कुचेष्टार्थ पकड़ना चाहता है चंद्रगुप्त उपयुक्त अवसर पर आ जाता है । फिलिप्स कार्नेलिया से कुछ कुचेष्टा करना चाहता है और चंद्रगुप्त वहाँ भी सहसा पहुँच जाता है । इसी प्रकार चंद्रगुप्त और कार्नेलिया संभाषण कर रहे हैं, फिलिप्स पहुँच कर कार्नेलिया से कुछ कदने लगता है और फिर चंद्रगुप्त की ओर दृष्टि डालता है । यहाँ भी अस्वाभाविकता है, क्योंकि स्टेज पर दोनों बातें कर रहे हों और फिलिप्स केवल कार्नी को देखे पर वे चंद्रगुप्त को नहीं, यह अनुचित है ।

इसी प्रकार प्रसाद के द्वंद्व-युद्ध (Duels) भी भारतीय वातावरण के सर्वथा प्रतिकूल हैं । प्रसाद से इतिहासविद ने यूरोपीय द्वंद्व-युद्ध को भारतीय वातावरण में चित्रित कर अनौचित्य का ही प्रदर्शन किया है । हमारे यहाँ भी द्वंद्व-युद्ध होते रहे हैं । किंतु कन्या के लिये उस ङ्ग के द्वंद्वों का होना जैसा यूरोप में पाया जाता था वैसा कहीं नहीं पाया जाता है । कन्या-हरण, और उसके लिये राजाओं में युद्ध हुए हैं किंतु यह प्रसाद के मस्तिष्क की ही नई उषज समझी जानी चाहिए कि । यूरोपीय द्वंद्वों को न समझने के कारण शायद भारतीय द्वंद्व-युद्ध समझाये हैं । उसमें फिलिप्स और चंद्रगुप्त का द्वंद्व-युद्ध तो लक्ष्य ही नहीं योग्य भी है किंतु पर्वतेश्वर का सिंहरण से, चाणक्य का राजस से द्वंद्व सर्वथा असंगत है । कम से कम उनका व्यक्तीकरण तो समुचित नहीं

है, यूरोपीय है, भारतीय नहीं। यद्यपि भारत में भी मानवोचित—ऐसे घात-प्रतिघात अवश्य रहे हैं और रहेंगे।

प्रथम अङ्क में शिकारी के वेश में सिल्यूकस आता है। वह अलका को देख कर पृच्छता है—

“सिल्यूकस— यहाँ तो तुम अकेली हो सुन्दरी !”

अलका—सो तो ठीक है।—(दूसरी ओर देख कर सहसा)—परन्तु !

देखो वह सिंह आ रहा है ! सिल्यूकस उधर देखता है, अलका दूसरी ओर निकल जाती है” भी अस्वाभाविक है, यद्यपि स्त्रियें स्वभावतः इस प्रकार के चकमे दिया करती हैं। कभी अपने इष्ट-प्रेमियों को इसी प्रकार के चकमें देना उनके लिये आवश्यक हो जाता है।

इसी प्रकार गांधार नरेश का आम्भीक से द्वंद्व-युद्ध को ललकारना अनुचित-सा प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त का और इस नाटक के पात्रों का यहाँ ‘सहसा प्रवेश’ बड़ा ही अरोचक हुआ है।

चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया, मालविका एवं कल्याणी के साथ परिणयात्मक प्रेम स्वाभाविक तो है किंतु श्रेयस्कर नहीं। इसी प्रकार उन तीनों का चन्द्रगुप्त के प्रति परिणयात्मक प्रेम का भाव रखना भी सर्वथा स्वाभाविक है किंतु वह पुरुष और नारी की भावनाओं के समान ही अस्पष्ट हो गया है। जैसी स्वयं भावनाएँ अस्पष्ट ऐसे समय में रहती हैं इस कृति में भी वैसी की वैसी उतर आई हैं। यह एक सुन्दरतम उनका फोटोग्राफ तो है किंतु इनके द्वारा जो अन्तर्द्वंद्व, मानसिक संघर्ष, हृदयजन्य उथल-पुथल, जो बेचैनी होना चाहिए वह नहीं है, उस चित्र का एनलार्जमेंट नहीं है जिसकी आकांक्षा हम कला-कृति में करना चाहते हैं। पर इतना अवश्य है कि न केवल चन्द्रगुप्त में किंतु

प्रसाद के सब नाटकों के सब पात्रों में प्रसाद के एकाधिकार का प्रदर्शन ही प्रतीत होता है। स्पष्ट मालूम होता है कि उनके सब पात्र और घटनाएँ उनकी ही सृजन की हुई हैं। वे एक डिक्टेटर के समान संचालन कर रहे हैं। उनका स्थान वही है जो चाणक्य का सुदाराक्षस या चंद्रगुप्त में है। वे चाहे जहाँ और जिस प्रकार सफलता पूर्वक उन्हें रख सकते हैं, घटा या बढ़ा सकते हैं, बदल सकते हैं। उनके पात्रों और घटनाओं के सब सूत्र उनके ही हाथ में हैं और वे इतने शक्ति रहित और तुच्छ हैं कि प्रसाद का शक्तिशाली अध्ययन उन पर अपना एक अधिकार रखता है। यह बात प्रेमचंद से सर्वथा विपरीत है। यहीं प्रसाद और प्रेमचंद दो मार्गों को जाते हुए दिखाई देते हैं और वह भी विरुद्ध। ऐसा ज्ञात होता है दो महाशक्तिएँ, आज के दो महान् कलाकार हिंदी माता को पूजने के लिये दो प्रतिकूल मार्गों से जा रहे हैं। प्रेमचंद की रचनाओं की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे अपने पात्रों और घटनाओं को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ देते हैं, उन्हें अपने-अपने मार्गों पर चले जाने देते हैं, उन्हें रोकते नहीं, उनका पथारोध नहीं करते, उनमें बाधा नहीं डालते। किन्तु उनका मस्तिष्क, उनकी कला यह अवश्य जानती है कि उनके पात्र कब क्या करेंगे ? उन्हें किस प्रकार की परिस्थितियों में पड़ना पड़ेगा ? किस प्रकार की और क्या घटनाएँ घटित होंगी ? प्रेमचंद उन्हें स्वतंत्र छोड़ कर अलग हो जाते हैं। दूर से सृष्टिकर्ता के समान अपनी सृष्टि का अभिनय देखते हैं। प्रसाद जहाँ एक मेधावी सूत्र-संचालक हैं वहाँ प्रेमचंद एक महान् उदार विभूति। इसीलिये प्रेमचंद के पात्र 'नाटकीय अभिनय' नहीं करते। ऐसे प्रतीत होते हैं कि हमारे जीवन से ही मिले हुए, हमारे सहयोगी, सहचर या परिचित बंधु-बंधव, पड़ोसी आदि हैं। हम और हमारा परिचित वातावरण हमें प्रेमचंद में मिलता है। इससे बाहर कुछ नहीं।

चाणक्य के चरित्र में न केवल सुद्वारात्तस एवं राय का चित्रण मिलता है किन्तु प्रसाद ने चंद्रगुप्त के समान ही बल्कि उससे भी अधिक चाणक्य के सुधारने, सँवारने में प्रयत्न किया है। प्रसाद का चाणक्य उन सबकी निशिष्टताओं को तो लिये हुए है ही किन्तु उनके चाणक्यों में जो अपूर्णताएँ थीं उनका समुचित और बड़े ही सुन्दर ढंग से निराकरण चंद्रगुप्त में हुआ है एवं उसका चरित्र न केवल एक विद्वान्, राजनीति कुशल प्रतिज्ञा के उद्देश्यवाले चाणक्य का है; न केवल बौद्ध विद्वेपी अथवा ब्राह्मणत्व के पक्षपाती चाणक्य का है किन्तु एक महान् मेधावा राजनीतिक सूत्रों के संचालक, कर्माडिग नेचर के व्यक्ति, अजौकिक, दूरदर्शी, 'भारत एक और अखण्ड है' की पूर्ति करने के लिये समस्त उत्तरापथ को एक सूत्र में संघटित करनेवाले और उसे संघटित करके मगध में एक महान् क्रांति को सफल करने में अग्रगण्य चाणक्य का है। सेल्यूकस के विरुद्ध जिस प्रकार की सैन्य संचालन की नीति उसने अस्वत्थार की वह अप्रतिम है। साहस और वीरता में जहाँ चंद्रगुप्त को श्रेय मिलता है वहाँ राजनीति-संग्रहण के लिये उसका सदुपयोग करने में चाणक्य का हाथ है। वह पिछली पर्वतेश्वर की पराजय के कारणों को समुचित हृदयंगम कर यूनानी राजनीति को भी पराजित कर भारतीयता का गौरव बढ़ाता है।

भारतीयता और मगध-प्रेम तो उस ही नस-नस में व्याप्त है। उसमें द्वेष नहीं, नंद से भी नहीं, प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये नंद वध हुआ अवश्य किन्तु नंद वध का, शूत्र जन्मा नन्द की पदच्युति का, उसको उतना ख्याल नहीं था जितना मगध को सुशासित देखने का, उसे भी, धन संपन्न और प्रमुख राष्ट्र बनाने का। इसीलिये मगध की दुर्दशा देखकर उसका हृदय दुःख और कष्ट से भर जाता है। उसके हृदय में यह बात कचोटती है कि उत्तरापथ के अन्य प्रजातंत्रात्मक राज्य तो

स्वतंत्रता को उपयोग करने हुए फल फूट रहे हैं और मगध अभी तक साम्राज्य का स्वप्न देख रहा है।

प्रसाद की शृंगारिक भावना ने चाणक्य को भी उसी रंग में रंग दिया है। युवा चाणक्य में सुवासिनी के प्रति युवकोचित प्रेम है, प्रेम की टीस है। राजनीतिक प्रपंचों में फँसा हुआ, युद्ध में निपट, क्रांति को सफल बनाने में दत्तचित्त, मगध से निर्वासित और बाहर रहनेवाला चाणक्य भी बालपन की सखी, तरुणई की भावना को प्रश्रय देनेवाली सुवासिनी को नहीं भूलता। बग़र उनके हृदय को वह स्पर्श कर जाती है, किंतु राष्ट्र का प्रेम, उत्तरापथ का कल्याण, ब्राह्मणत्व की उच्चतम त्यागशील भावना, उत्कृष्ट ज्ञान-पिपासा, विश्व के स्थायी कल्याण के लिये निष्पटुता और अकिंचनता की भावना सर्वोपरि रहती है। मगध को एक महान् साम्राज्य में संघटित करनेवाले सम्राट चंद्रगुप्त पर एक छत्र प्रभुत्व रखनेवाला वह चाणक्य राम की नाईं साम्राज्य को छोड़ देना है। प्रणय को ठुकरा देता है। कुसुमपुर नहीं उपवन को अपना निवासस्थान बना लेता है। उसके इस महान् त्याग से चाणक्य के न केवल सब राजनीतिक दोष छिप जाते हैं किंतु उसका चरित्र निखर जाता है, उच्चतम, उज्ज्वलतम हो जाता है।

मुद्राराक्षस में वह केवल एक राजनीति-कुशल, राजनीतिक चालों का सृष्टा और उनको छिन्न-भिन्न करनेवाला है जिसने अपनी चालों से, विद्वता एवं संघटनशक्ति के द्वारा चंद्रगुप्त को निष्कण्टक सम्राट बना दिया। राय में वह इनके अतिरिक्त मानव भी है। अपनी प्रिया और पुत्रों के वियोग से दुःखी भी। संस्कृतियों, यूनानी एवं भारतीयों का संयोजक। किंतु प्रसाद में वह यह सब कुछ तो है ही किंतु उससे कहीं, किनना ही अधिक वह त्यागशील, भारतीयता का संपोषक, रक्षक और प्रेमी भी है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से चाणक्य की उज्ज्वल प्रतिभा

.....

एवं मेधा-शक्ति के हमें दर्शन होते हैं और अंत तक उसी प्रखरता के साथ वे हम पर अछुल प्रभाव डालती चली जाती हैं ।

चाणक्य के आग्नीक के प्रति ये कथन इसके प्रमाण हैं, “राजकुमार ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है ।... ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है । प्रकृति के कल्याण के लिये अपने ज्ञान का दान देता है ।”

“इसी से दस्यु और मलेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राय देख रही है ।”

आगे पुनः चाणक्य चंद्रगुप्त और सिंहरण की इस छात्रावस्था की मित्रता को उत्तेजित करते हुए कहता है तकि वह मित्रता केवल क्षणिक न रहे स्थायी होकर भारत कल्याण और संघटन करने में समर्थ हो सके । “तुम मालव हो यह मागध; यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म सम्मान इतने से ही संतुष्ट न होगा । मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा ।”

प्रथम अंक के प्रथम दृश्य के उक्त कथन ही व्यापक बनकर समस्त नाटक में फैल गये हैं और इन्हीं के अनुकूल, इन्हीं सिद्धांतों की रक्षा के निमित्त सब ही पात्रों का—न केवल चाणक्य का—चरित्र चित्रण किया गया है । चाणक्य की भविष्य वाणी अथवा दूरदर्शिता जिसे उसने इसी दृश्य में प्रकट की है सारे नाटक की घटनाओं को संचालित करती है । “आगामी दिवसों में, आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनंतर दूसरे विदेशी विजेता से पद दलित होंगे ।... नंद पर्वतेश्वर के

कारण यह शुद्ध-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्या-वर्त्त का सर्वनाश होगा।”

चाणक्य प्रथम तक्षशिला गुरुकुल के कुलपति के रूप में हमारे समक्ष आता है। यहीं से उसका महत्व और प्रतिभा, उसकी दूरदर्शिता, राजनीतिज्ञता और सूक्ष्मज्ञान और पर्यवेक्षण शक्ति का दिग्दर्शन हमें प्रसाद कराते हैं। गांधार के राजपुत्र के प्रति उसके कथन एवं उसे विद्यालय से बाहर चले जाने का आदेश दे देना, उसकी निर्भयता और परिस्थितियों को सँभालने की शक्ति का परिचय देते हैं। तक्षशिला से घटनाएँ मगध में पहुँचती हैं। चाणक्य कई वर्षों के पश्चात् मगध पहुँचा है। उसके पिता का, भोंपड़ी का पता नहीं है। बाल सहचरी सुवासिनी जिसकी स्मृति आज भी उसके मानस पर ताजी है नन्द की रंगशाला की अभिनेत्री बन गई है। उसका मानव-हृदय टूटने लगता है। बाद में नन्द की राज सभा में उसकी निर्भीकता, सत्यकथन, राजनीतिक दूरदर्शिता की अवहेलना कर उसका अपमान किया जाता है। उसे दृढ़ प्रतिज्ञा समझ कर राजस और कात्यायन उसे राज्य की नौकरी आदि का प्रलोभन देकर नन्द-विरोध को त्याग करवाने का प्रयत्न करते हैं किंतु चाणक्य के दृढ़ निश्चय के कारण असफल होते हैं। इसी समय चंद्रगुप्त भी निर्वासित किया जाता है। पुनः दृश्य गांधार और पंचनद पहुँच जाता है। दाण्ड्यायन ऋषि के आश्रम में भेंट होती है। ऋषि के मुँह से चंद्रगुप्त के सम्राट होने का कथन करवाया जाता है। चंद्रगुप्त सेल्यूकस का अतिथि होकर यूनानी रणनीति और युद्ध-संचालन सीखता है। फिर सब मिल कर पर्वतेश्वर की सहायतार्थ आते हैं। चाणक्य पर्वतेश्वर से इसके पहिले ही यह प्रयत्न कर चुका था कि बह चंद्रगुप्त की सहायता कर मगध को हस्तगत करने में सहायता दे ताकि सिकंदर से सामना किया जा सके। यह बात नहीं हो सकी और पर्वतेश्वर को पराजित हो

सन्धि करना पड़ी। इस युद्ध में भी चाणक्य आदि की सहायना पर्वतेश्वर को परोक्ष रूप में रही। बाद में घटनाएँ मालव में पहुँचनी हैं और चाणक्य की संघटन करने की शक्ति के कारण अलक्षेन्द्र की दुर्दशा होती है। अलका और सिंदरुण का विवाह होता है। इसी समय चाणक्य की राजनीतिक दूरदर्शिता राक्षस को मूर्ख बनाकर रोकने में एवं मगध सेना को रोक कर उसे अपनी सहायता भेजने में प्रकट होती है। राक्षस जो कल्याणी को लौटा ले जाने के लिये आया था, चाणक्य के चक्कर में आ जाता है और जब तक अलक्षेन्द्र भारत से बाहर नहीं चला जाता तब तक विवश हो उसे पड़ा रहना पड़ता है। राक्षस और चाणक्य का संघर्ष जो मुद्राराक्षस में प्रकट होता है उसका आभास मात्र प्रसाद ने यहाँ दिया है। इसके पश्चात् चाणक्य मगध में क्रांति करवाने के कार्य में जुट जाता है। राक्षस को पुनः मूर्ख बनाकर उसकी मुद्रिका प्राप्त करता है।

अब फिर घटनाओं का क्रम मगध पहुँचता है। क्रांति की पूर्ण तैयारी हो चुकी है। राज-सभा में प्रजा के द्वारा जिसका नेतृत्व चाणक्य के हाथ में है नंद का विरोध किया जाता है और उस पर कई दोष लगाये जाते हैं। प्रजा उसके वध की याचना करती है किंतु चाणक्य शायद बंदी बनवाना चाहता था किंतु बीच में शकटार छुरा मोंक कर उसका वध कर डालता है। वह चंद्रगुप्त को सम्राट बनवाता है। इसके कुछ समय पश्चात् सेल्यूकस अलक्षेन्द्र की अपूर्ण भारत-विजय को पूर्ण करना चाहता है। इस समाचार से चाणक्य उसके विरोध करने के लिए संलग्न हो जाता है। बनावटी तौर पर चंद्रगुप्त और चाणक्य में झगड़ा होता है। चाणक्य यहाँ से चल देता है। चंद्रगुप्त और सेल्यूकस का युद्ध होता है। चाणक्य परोक्ष रूप से चंद्रगुप्त की सहायता करता है। राक्षस को जो सेल्यूकस से जाकर मिल गया था सुवासिनी के द्वारा

फिर मगध को वापिस लौटवाता है। चाणक्य और चंद्रगुप्त फिर मिल जाते हैं। चाणक्य इसके पश्चात् चंद्रगुप्त और कर्नेलिया का तथा राजस सुवासिनी का विवाह करवा कर एवं मगध का मंत्री-पद राजस के हाथ में सौंप कर तपोवन में चला जाता है। इसमें उसके चरित्र की दो बातों पर प्रकाश पड़ता है। एक तो यह कि कर्नेलिया एवं चंद्रगुप्त के विवाह द्वारा उसने दो महान संस्कृतियों का ही मानो पाणि-ग्रहण करवा दिया यह सोच कर कि अलक्षेन्द्र और पर्वतेश्वर तथा सेल्यूकस एवं चंद्रगुप्त में जो लगातार संघर्ष हुए उनकी परंपरा मिट जावे और दो महान जातिएँ; महान राष्ट्र पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा विरोध मिटा कर एक दूसरे के सहायक हो सकें। उसकी यह नीति ऐतिहासिक दृष्टि से भी वास्तव में सफल हुई। दोनों संस्कृतिएँ मिलीं और उनका संघर्ष दूर हो गया।

दूसरी बात राजस-सुवासिनी विवाह कराने के पश्चात् राजस को मंत्री पद देकर विरक्त हो जाने की है। इससे प्रकट होता है कि चाणक्य ने इतने राजनैतिक उथल-पुथल; साम्राज्य-संघटन आदि कियाएँ कीं किंतु उसकी आंतरिक मूल प्रवृत्तिएँ विरक्ति की ओर ही थीं और उसने परिस्थितियों से लाचार होकर ही इनमें भाग लिया था। जिस कार्य का प्रारम्भ वह करता उसे पूर्ण अवश्य करता। इसीलिए जहाँ उसने नंद-वध की प्रतिज्ञा की थी वहाँ नंद-वध के पश्चात् चंद्रगुप्त को निष्कंटक कर के एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापन करना भी उसका अंतिम ध्येय हो गया था और इसी ध्येय के पश्चात् उसे बाणप्रस्थाश्रम ग्रहण करना योग्य था और वही उसने किया भी। राजस को वह अवश्य योग्य, विद्वान्, देश-भक्त एवं कार्य का पक्का समझता रहा होगा। तब ही राजस जिसने उसका, चंद्रगुप्त का विरोध किया उसे ही बुला कर; समझा कर, प्रयत्न कर मंत्री-पद सौंपा। ऐसा ज्ञात होता है उस समय राजस के अतिरिक्त

कोई राज्य-कार्य सँभालने योग्य, मगध-भक्त व्यक्ति न होगा जिस पर साम्राज्य-भार सौंप कर वह निश्चित हो सके। अन्त में उसकी निवृत्ति मूलक प्रवृत्तियों के कारण ही वह इन सब घटनाओं को घटित करवा कर इनसे पृथक हो गया।

राक्षस का चरित्र प्रसाद मुद्राराक्षस के राक्षस के योग्य न उतार सके। इनका राक्षस एक तरुण युवक अनुभवहीन राक्षस है। जो प्रौढ़ चाणक्य के नीति-जालों में फँस कर मूर्ख बन जाता है। राजनीतिक चालों को समझने में वह सर्वथा अनभिज्ञ ज्ञात होता है। कदाचित् उसका कम वय होने के कारण। प्रसाद का उसके लिये यही स्पष्टीकरण हो सकता है। किंतु प्रसाद उसे योग्य और विद्वान् अवश्य मानते हैं। इसीलिये कानैलिया के शिक्षणार्थ नियुक्त करवाते हैं। चाणक्य द्वारा उसे पुनः मंत्री-पद प्रयत्न द्वारा दिलवाते हैं। किंतु मुद्राराक्षस के राक्षस की असफलता के कारण उसे मूर्ख और राजनैतिक चालों को समझने के अयोग्य समझना उचित नहीं बन पड़ा है। मुद्राराक्षस में असफल होते हुए भी प्रेक्षक अथवा पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह उदारचित्त और परिस्थितियों के ही कारण परास्त हुआ, असफल हुआ, न कि राजनीतिक अदूरदर्शिता एवं मूर्खता के कारण। किंतु प्रसाद के राक्षस का पाठक या प्रेक्षक के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह मूर्ख रहा होगा, या मूर्ख-विद्वान् रहा होगा चाणक्य विरक्त होना चाहता होगा इससे उसने उसे मंत्री-पद सौंप दिया होगा। प्रसाद के राक्षस के प्रति, उनके चरित्र-चित्रण द्वारा हमारी कोई अच्छी धारणा नहीं बनती यद्यपि वे ऐतिहासिक तथ्य की सत्यता के कारण उसे चाणक्य के द्वारा मंत्री-पद दिलवा देते हैं। प्रारम्भ में भी नन्द के मंत्री-पद के समय वक्रनास के वंशज होने के कारण ही शायद—न कि विद्वत्ता के कारण—उसे वह पद मिलता है। प्रसाद द्वारा इतनी धारणा

अवश्य बनती है कि वह कुसुमपुर का कुसुम-प्रधान-नागरिकों में अवश्य था ।

मुद्राराक्षस में अलक्षेंद्र के चरित्र को कोई स्थान नहीं । राय ने सूक्ष्म आभास दिया है । वह भी शायद भारत के प्राकृतिक सौंदर्य और वीरता के प्रदर्शनार्थ तथा हेलेन के चरित्र की पुष्टि के लिये । इस पुष्टि के लिये कि आगे चन्द्रगुप्त से जो विवाह होनेवाला है उसकी पृष्ठ-भूमि तैयार हो । प्रसाद ने अलक्षेंद्र और पर्वतेश्वर के चरित्रों को अत्यधिक विस्तार दिया है । नाटक की कथा-वस्तु का समय भी तीस-चालीस वर्ष से कम नहीं है ।

इतिहास में यह बात अति प्रसिद्ध है जिसे प्रायः साधारण इतिहासज्ञ पाठक भी जानता है कि सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था । पोरस से उसका युद्ध हुआ था और वह इतनी वीरता से लड़ा कि सिकंदर व उसके सेनानियों के लड़के छूट गये । सब से पहिले विजयी होकर भी वह एक साधारण नरेश से पराजित हुआ । भारत की वीरता का इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा । यह भी बहु विश्रुत बात है कि उसने पौरव से उसके बन्दी होने पर पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाय ? और उसका उत्तर था एक नरेश को दूसरे नरेश से जैसा करना चाहिये ।

उसकी सेना ने मगध-सेना की विशालता से भयभीत होकर सिकंदर के आगे बढ़ने के आग्रह करने एवं उसका दिलाने पर भी आगे बढ़ने से सर्वथा इंकार कर दिया था । यह भी प्रसिद्ध है कि चन्द्रगुप्त की भेंट सिबंदर से हुई थी । वापिस लौटते समय कतिपय जातियों ने मार्ग में उसे बेहद तंग किया था । इसी इतिहासानुमोदित एवं स्वान्वेषित कथावस्तु के आधार पर उन्होंने सिकंदर का चरित्र-चित्रण किया है । इसी के आधार पर ग्रीक-विजेता सिकंदर अप्रतिम वीर और साहसी

अवश्य है किंतु भारतीय वीरों के समक्ष उसे भी हार मानना पड़ी है । भारत में विजयी होकर वह पराजित हुआ । बाद में उसकी व्यक्तिगत वीरता एवं दुर्दशा का चित्रण भी प्रसाद ने किया है ।

मालव-दुर्ग पर सिकंदर आक्रमण करता है, दुर्ग के द्वार खोलने के लिए कुछ सैनिक दुर्ग की दीवार पर चढ़कर अंदर कूदना चाहते हैं । अलका पहेरे पर है । वह तीर मार कर उन्हें गिरा देती है । सिकंदर बचकर अंत में दुर्ग के अंदर कूद ही पड़ता है । वह अलका को पकड़ना चाहता है । इतने ही में सिहरण पहुँच कर सिकंदर से युद्ध करते हुए कहता है ।

सिहरण—(तलवार चलाते हुए) तुमको स्वयं इतना साहस नहीं करना चाहिए—सिकंदर ! तुम्हारा प्राण बहुमूल्य है ।

सिकंदर—सिकंदर केवल सेनाओं को आज्ञा देना नहीं जानता । ”

इतिहास प्रमाणित सिकंदर के इस चरित्र की प्रसाद ने पूर्ण रक्षा की है किंतु उसकी दुर्दशा का जो अस्पष्ट चित्र था उसको भी प्रसाद ने स्पष्ट, भारतीय गौरव के अनुकूल बना दिया है । इससे विश्व विजयी कहलाने वाले इस ग्रीक विजेता का महत्व अवश्य कम और भारत का बढ़ जाता है किंतु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है । अलका और सिहरण के विवाहोत्सव में सिकंदर का पहुँचना नाटक लेखक के विशेषाधिकार के अंतर्गत ही आयागा । वह दृश्य कला, सौंदर्य, भारतीय अभिरुचि, नाटकीय औत्सुक्य-वर्द्धन आदि के लिए सर्वथा उपयुक्त है । इससे सिकंदर का महत्व उतना नहीं रह जाता है जितना पाश्चात्य लेखकों विशेषकर ग्रीक लेखकों ने चित्रित किया है ।

राय का एंटीगोनस प्रसाद का फिलिप्स दोनों का चरित्र क्रमशः हेलेन और कार्नेलिया के लिए ही चित्रित किया गया है । वास्तव में

पृथक् रूप से इनका कोई महत्व नहीं। रॉय ने एंटीगोनस के चरित्र को बहुत मात्रा में कथावस्तु में स्वतंत्र रूप से बढ़ा दिया है। प्रसाद ने केवल फिलिप्स का चरित्र उतना ही ग्रहण किया है जितना कि कथा वस्तु के विकास और कार्नेलिया के चरित्र में सहायता पहुँचा सके। राय का एंटीगोनस उद्धत-स्वभावी, वीर और भावुक हृदय है, हेलेन का प्रेमी है और उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए वह सब कुछ करने के लिए उत्थन रहा है। हेलेन से विवाह होने में उसका नीच जन्म होता बाधक रहा। सेल्यूकस की दृष्टि से हेलेन का भी उस पर किसी समय प्रेम अवश्य रहा होगा किन्तु चन्द्रगुप्त को देख लेने के पश्चात् वह अवश्य काफूर होगया। एंटीगोनस हेलेन के लिए ही सैन्य संग्रह करना है, सेल्यूकस को कैद करता है और अन्त में अपनी उपेक्षिता माता द्वारा यह भी पता लगा लेता है कि वह स्वयं सेल्यूकस का ही पुत्र है। तब वह हेलेन को बहन समझता और चंद्रगुप्त के सामने नत-मस्तक हो जाने में अपना अपमान नहीं समझता है। इस प्रकार राय ने एक श्रौसुक्य और विचित्र रोमांस की सृष्टि की है। कार्नेलिया के सम्बन्ध तक तो प्रसाद का फिलिप्स भी इसी प्रकार का है। वह उसे चाहता है। वह युवक है; वीर है। कार्नेलिया भी किसी समय बहुत करके बचपन में चाहती रही है, किन्तु अब चंद्रगुप्त के प्रति एक उद्धेलित भावना उसके हृदय में उठती है और वह उस पर एक छत्र अधिकार प्राप्त कर लेती है। फिलिप्स द्वंद्व युद्ध के लिये उत्तेजित और व्यग्र हो जाता है और बाद में मारा जाता है।

हेलेन अवस्था कार्नेलिया के चरित्र प्रायः समान हैं। दोनों भारत-प्रेमी हैं। अपने पिता सेल्यूकस के साथ जब वह सिकंदर का सेनापति था भारत में आती हैं। भारत का प्राकृतिक सौंदर्य उन्हें मुग्ध कर लेता है। उन्हें ऐसा ज्ञात होता है कि भारत ही जैसे उनका देश हो। इसी समय उनका साक्षात् चंद्रगुप्त से होता है और उनमें प्रेमांकुर उग आता

है। उनमें एक भावना, एक प्रेम, प्रेम की एक बेचैनी छोड़ जाता है। वे स्वदेश—यूनान—लौटने पर भी वीर, सुन्दर भारतीय युवक चंद्रगुप्त को नहीं भूल पाती हैं। वे स्त्री हैं। युद्ध से उनका कुछ सम्बन्ध नहीं, वे भावुक हैं। उनका हृदय स्वच्छ है, वे मानव-मानव में भेद करना नहीं जानती। हृदय द्वारा शासित होना ही उनका शृंगार है। इसी प्रेम के कारण वे सुदूर यूनान को भी तिलाञ्जलि दे कर भारत के सुदूर प्रांत मगध में भी रहना स्वीकार कर लेती हैं। इतिहास ने जहाँ हेलेन अथवा कार्नेलिया की उपेक्षा की है, उसे विजय अथवा पराजय की एक लंन-देन-सामग्री समझा है वहाँ राय की भावुकता और प्रसाद के काव्यत्व ने हेलेन में प्राणों का संचार किया है। सौंदर्य की मानविक स्त्री उचित भावनाओं को साकार रूप दिया है। एक इतिहासज्ञ क्या खाक समझ सकता है कि नारियों के हृदय में कितने घात-प्रतिघात, कितने द्वन्द्व, कितने भाव नहीं उठते होंगे? आज भी नवविवाहिता वधुएँ पितृ-गृह और पति-गृह के मध्य की भावनाओं से कितनी विलोडित नहीं होती हैं? राय और प्रसाद में एक अन्तर भी है। हेलेन का चरित्र दो महान् संस्कृतियों के लिये मिलाप की भावना से अनुप्राणित है किंतु प्रसाद की कार्नेलिया संस्कृतियों के सम्मेलन से उतनी प्रभावित नहीं। वह तो चंद्रगुप्त की वीरता, उसके वीरोचित महान् कार्यों, उसकी तरुणाई से अभिमंत्रित है जो चाणक्य के मनोनुकूल विजय की एक लूट है। उसके यहाँ कौटिल्य की प्रथा रही है। इसी प्रथा का विवाह के प्रथम दिखाना जैसे प्रसाद को अभीष्ट हो। इसी के आधार पर कार्नेलिया का पूर्व जीवन प्रसाद ने चित्रित किया है।

प्रसाद के कल्पित अन्य चरित्र भी ध्यान देने योग्य हैं। दाण्डयायन एक भारतीय ऋषि के उच्चतम प्रतीक हैं। केवल एकाएक बिना प्रसंग के चंद्रगुप्त के प्रति भविष्य-कथन उनका उचित प्रतीक नहीं होता।

पर्वतेश्वर के चरित्र की भी रत्ना कर प्रसाद ने इस ऐतिहासिक तथ्य की रत्ना की है कि विश्व-विजयी सम्राट सिकंदर का सामना भी साहस एवं वीरता के साथ भारत का एक प्रादेशिक स्वतंत्र राज्य कर सका और वह भी पराजित होकर विजयी हुआ। वह आंभीक के देश-द्रोह एवं मगध के द्वेष-भाव के कारण, नहीं तो सिकंदर का भारत में भी उस तरह विजय का श्रेय नहीं मिलता जो आज मिल रहा है। पर्वतेश्वर में ग्राह्यणत्व एवं ऊँच-नीच की भावना का सृजन करना प्रसाद की कल्पना है, और चाणक्य तथा चंद्रगुप्त के महत्व वृद्धि के हेतु वह कुछ अंशों में नेराधार मूर्ख बनाया गया है। इसमें संदेह नहीं कतिपय त्रुटियों के कारण ही वह पराजित हुआ था किंतु प्रसाद ने उनका आरोप दूसरी ओर कर दिया है। अलका का उसे धोखा देना उसके गौरव के योग्य नहीं हुआ। यद्यपि स्त्रियों में इस प्रकार का धोखा देना स्वभावतः ही पाया जाता है। इसी प्रकार अलका-सिंहरण विवाह के समय उसका उपस्थित करवाना सिकंदर के प्रभाव के कारण उचित तो है किंतु उसका गौरव जैसा उन्होंने पहिले बढ़ाया है उसके अनुरूप नहीं। बाद में उसकी दुर्दशा ही हुई है। प्रसाद का उद्देश्य शायद यही है कि पौरव जिस पर सिकंदर ने एक ऊपरी विजय पाई थी अथवा जिससे समान संधि हुई थी अथवा जिससे वह पराजित होते-होते बच गया था वह एक साधारण भारतीय राजा था। उसका महत्व भारत में कुछ विशेष अधिक नहीं था और चाणक्य तथा चंद्रगुप्त के समक्ष तो कुछ था ही नहीं। चंद्रगुप्त निष्कण्टक राज्य कर सके इसलिये उसका वध हुआ था। इस वध को प्रसाद ने कल्याणी द्वारा उसके नारीत्व पर आक्रमण करने के कारण करवाया है। सिंहरण एक वीर मालव है। आंभीक एक देश-द्रोही महत्वाकांक्षी युवक है।

प्रसाद के नाटकीय पात्र

न केवल प्रसाद की कथावस्तु में किन्तु उनके पात्रों में भी वे ही युग निचुड़ आये हैं जिनका उन्होंने चित्रण किया है। उनके पात्र उसी युग के व्यक्ति हैं। उनमें अमर भाव, स्थायित्व, मानव में सदा रहनेवाली भावनाएँ हैं। वे केवल प्रसाद के अतीत-प्रेम के ही परिचायक नहीं हैं, केवल इतिहास के ही मूक स्तम्भ नहीं हैं किन्तु उनकी वरूपना एवं कविस्व के कारण, हमारे युग के आदर्शों, युद्धों के प्रतीक हैं और साथ ही भविष्य के लिये भी पथ प्रदर्शक हैं। उनके पात्रों में कवि हैं, दार्शनिक हैं, राष्ट्रनेता हैं किन्तु उनकी क्षणिकता नहीं है। उनमें क्षणिक राष्ट्रीयता नहीं है। अमर राष्ट्रीयता की रक्षा, भारतीय संस्कृति, उसकी रक्षा का विधान और आदर्श हैं। प्रेमचन्द से केवल इसी स्थल पर प्रसाद आगे बढ़े हुए हैं। प्रेमचन्द ने जहाँ 'आज' को रँगा है। वर्तमान के आधार पर अपनी कला की नींव जमाई है वहाँ प्रसाद ने 'अतीत' के पात्रों में अपनी कला की उद्भावना की है। प्रेमचन्द के पात्रों का एक छोटा भाग प्रवश्य भूत में लीन होता जायगा और अतीत की इस युग की सुन्दर-रम्य देन के रूप में एक सामग्री होगा। किन्तु प्रसाद में एक छोटा हा भाग अतीत का है। शेष बड़ा भाग मानवता, काव्यत्व से ओत-प्रोत है जिसमें भविष्य के स्तर के स्तर समाये हुए हैं। प्रसाद और प्रेमचन्द की प्रतिभय इन्हीं विशेषताओं के कारण उनके पात्रों में भेद दिखाई देता है। प्रेमचन्द के पात्र इस युग के ही पात्र होते हैं। वे हमारे देखे-सुने, रिश्चित अथवा पड़ोसी ही हैं। प्रसाद के पात्र भारत के गौरव की वस्तु जिनसे सदा प्रेरणा मिलती रहेगी, जो हम में भाव भरते रहेंगे।

प्रसाद के पात्रों में इस अतीत का, एक विशिष्ट युग का चित्रण एवं उनके चिंतन की एक विशिष्ट दिशा होने के कारण एक साम्य, एक समरसता पाई जाती है। उनके नाटकों में कई पात्र एक ही साँचे में ढले हुए से दिखाई देने हैं। इनमें भिन्नता न हो यह तो नहीं है किंतु है वह बहुत कम। उनमें उनकी अपनी शैली, अपना चिंतन, अतीत के गौरव का महत्त्व, असहयोग आंदोलन के बाद जो राष्ट्रीयता का स्वरूप देश को देखने को मिला उसकी छाया, प्रतिबिम्ब झलकता है। फिर भी पात्रों की समानता एवं समरसता के कारण उनके नाटक विशेषकर ऐतिहासिक नाटकों के पात्र समष्टिरूप से विचारणीय हैं यद्यपि उनमें, साम्य-वैषम्य मिलता है। विभिन्नता उस युग के विभिन्न उपविभागों, उन उपविभागों की निजी विशेषताओं एवं पात्रों के विभिन्न व्यक्तित्वों के कारण है। जहाँ प्रसाद ने क्षेत्र पलटा है वहाँ इस प्रकार की समानता का प्रायः अभाव पाया जाता है। इसीलिये नाटकेतर क्षेत्र में अतीत और वर्तमान मुस्लिम-युग का भी सुन्दर दिग्दर्शन है। इसी समानता के कारण प्रसाद के पात्रों की एक श्रेणी सी बन जाती है।

उनके पात्रों में कतिपय अन्य विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। पात्रों के सहसा परिवर्तन बौद्ध-साहित्य का प्रभाव है। बौद्ध-साहित्य में एक समय में किसी विशिष्ट कारण एवं व्यक्ति के प्रभाव से एक साथ ही सैकड़ों व्यक्तियों के विचार, मत, सिद्धांत, धर्म आदि के परिवर्तन के कथन पाये जाते हैं। प्रसाद के पात्रों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हैं। इन पात्रों के चरित्र में एकाएकपन, आकस्मिकता आ गई है जो चरित्र के विकास की अपूर्णता प्रकट करती है, किंतु ऐसे पात्रों में चरित्र की दृष्टि से यह समझना चाहिए कि उनकी मानविक अंतः प्रवृत्तिएँ पहिले से ही उसी ओर झुकी रही हैं और कोई साधन या ठेस मिलने पर अपने निश्चित स्थान पर आ गई हैं। महात्माओं के प्रभाव के कारण भी

प्रायः उनमें परिवर्तन होना पाया जाता है। इससे भी चरित्र-विकास की पूर्णता सूचित नहीं होती। किन्तु प्रसाद के ये विचार थे कि हमारे गौरवमय अतीत में, ऋषि-मुनियों के उस प्रभाव वाले जमाने में, तप, त्याग, ज्ञान और दर्शन की महत्ता और सर्व श्रेष्ठता के युग में उन महात्मा पुरुषों का इतना व्यक्तित्व, प्रभाव रहता था कि उनसे विरोधी पक्ष भी सहमत हो जाता, अपने विरोधों को भुल जाता, अपने व्यक्तित्वों को तुच्छ समझ उनकी सम्मति, उनके आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। ऐसे व्यक्तित्व यद्यपि जन-मसूद से विलग रह कर केवल अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन में ही रत रहते थे। राजनीति से प्रायः दूर रह कर मानव-कल्याण चिन्तन में ही दत्त-चित्तरहते थे। किन्तु उनकी महत्ता और प्रभाव व्यापक रहता और राजा से रंक तक का मान्य हुआ करता था। इन्हीं कारणों से पात्रों के आकस्मिक परिवर्तनों का दोष जो विकास की अपूर्णता प्रकट करनेवाला है उनके विचारों का प्रतीक है।

“प्रसाद” के महापुरुष (महात्मा) दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो दार्शनिक हैं और संसार से विलग रहकर अध्ययन, मनन और चिंतन में तल्लीन रहते हैं। उनमें महान् व्यक्तित्व होता है ‘प्रसाद’ के महात्मा और सम्राटों तक पर उनका अलौकिक प्रभाव रहता है। उनमें मानव-मस्तिष्क के पहिचानने की क्षमता रहती है। वे भविष्य-दृष्टा हैं और विश्व की अंतर्घटनाओं से विज्ञ भी रहते हैं। महर्षि व्यासदेव, दण्डायन, मिहिरकुज इसी प्रकार के महात्मा हैं। दूसरी श्रेणी उन परोपकारी महापुरुषों का है जिनके जीवन का ध्येय संसार में रहकर विश्व-कल्याण करने का है। ये महात्मा संसार में विचरण कर, गृहस्थों के संपर्क में आकर जहाँ पर जिस प्रकार हो सकता है अपने ज्ञान-विज्ञान, सेवा-साधना से, उपदेश देकर समयानुसार

मानव-कल्याण किया करते हैं। महात्मा गौतम, प्रख्यात कीर्ति, दिव्य कर मित्र प्रेमानंद इसी श्रेणी में आते हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि प्रथम श्रेणी के महात्माओं के विषय में अधिक विवेचन के लिये प्रसाद ने कोई स्थान नहीं रखा है।

महात्मा गौतम को 'प्रसाद' ने उसी युग में देखा है। मानव-कल्याण का उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहते हैं। उनके परोपकारी स्वभाव उनके प्रभाव एवं कीर्ति के कारण उनका विरोध बन जाता है। वे निस्पृह हैं और इसी निस्पृहता का संदेश राजा से रंक तक को सुनाते हुए भ्रमण करते रहते हैं। उनके उपदेश की तह में सच्चाई, आत्मा की शक्ति त्याग की महत्त्व रहती है। राजा महाराजाओं पर काफी प्रभाव है, किंतु यह उनके दर्शन और सिद्धान्तों का नहीं है। उनके द्वारा दिये गये मानवी-कल्याण संदेश का है जिससे त्रस्त मानव को त्राण और सुख के लिये एक मार्ग मिलता है। त्याग और तितिक्षा उनके श्रृंगार हैं। महात्मा गौतम चारित्र्य-बल और आत्म-दृढ़ता भी इतनी महान् है कि जब शैलेन्द्र डाक (विरुद्धक) श्यामा वेश्या (मागंधी) का गला घोटकर भाग जाता और वह मरणासन्नावस्था में गौतम की कुटी के निकट पड़ी हुई उनसे दिखाई देती है तब वे लोक निंदा और विरोध के डर से भी उससे सेवा करना नहीं छोड़ते। उनका आदर्श यही रहता है कि वह जीवित एवं स्वस्थ हो जाय, उसे सुख और सान्त्वना मिले। उन्हें चाहे कितना भी लोकापवाद क्यों न मिले? इसी चारित्र्य-दृढ़ता के फलस्वरूप उनका प्रभाव और कीर्ति बढ़ती है।

प्रख्यात कीर्ति की गणना इसी प्रकार के उन त्यागशील, मानव हित के लिये प्रणार्पण करनेवाले महात्माओं में होती है जिन्हें प्रलोभन अ

धार्मिक उन्माद भी विचलित नहीं कर सकते।
 प्रख्यात-गीर्ति ब्राह्मण और बौद्ध जब अकारण पशुबलि करने और
 रोकने के लिये हिन्दू मुसलमानों के समान झगड़ा
 करने लगते हैं तब यह महात्मा प्राणों का मूल्य लगाकर भी, त्याग का
 आदर्श उपस्थित कर उस झगड़े को दूर करता है। दोनों पक्ष जब धर्म
 के नाम पर सिर फुटीअल को प्रस्तुत हो जाते हैं तब बौद्ध भिक्षुओं में से
 वह किसी एक को आह्वान करता है जो पशु के स्थान पर अपनी बलि
 देने का साहस कर सके। किन्तु बौद्ध भिक्षुओं में से जब कोई भी प्राण
 देने को प्रस्तुत नहीं होता तब वह स्वयं प्रस्तुत हो जाता है।
 इस महान त्याग का प्रभाव भी अतोक्ति ही पड़ता है।
 त्याग का यह अनुपम अदर्श आज भी भारत के धर्म वादियों की
 आँखें खोलने के लिये पर्याप्त है। उसके त्याग की दृढ़ता एक अन्य स्थल
 पर देखने को मिलती है जो कि अराष्ट्रीय धर्म भक्तों के लिये भारत
 सट्टा देश के लिये अनिवार्य है। उसे बौद्ध धर्म के प्रचार की सहायता
 का, धन का लोभ दिया जाता है ताकि वह बौद्ध जनना को विदेशी
 आक्रमण हूण सरदार की सहायता के लिये प्रस्तुत करे। आदेश देवे
 किन्तु वह धन और धर्म के प्रचार के प्रलोभन पर विजय प्राप्त करता
 है। भारत के उन्मादी धर्म प्रचारकों के समक्ष भारत के सतत् कल्याण
 और स्वतंत्रता की रक्षा के लिये एक उच्च आदर्श उपस्थित करता है

प्रेमानंद इसी श्रेणी के उन सच्चे साधु महात्माओं में से हैं जो
 एकाकी विचरण कर प्रकृति का उपभोग करते, मानव का जहाँ जैसे भी
 हो कल्याण करते और व्यक्तित्व को गठित करते रहते हैं। वह
 प्रेममनंद सत्यशील को उसके दुष्कर्मों पर धिक्कारता है। चन्द्रलोका
 की रक्षा करता है, नरदेव के राजकुमार की रक्षा कर अपने
 मनुष्यत्व का, साधुता का परिचय देता है।

इनके विरुद्ध उनका चरित्र आता है जो इनके प्रतिद्वंद्वी असद्व्यवृत्ति के पोषक महात्मा अथवा भिक्षु हैं । विशेषकर ऐसे बौद्ध भिक्षु हैं जो बौद्ध-धर्म के विकृत होने पर स्वयं विकृत हो गये अथवा अपनी विकृतियों से बौद्ध-धर्म को कलंकित कर गये । इनमें महानता, त्याग की तो कमी थी ही किंतु विद्वेष, धार्मिक वितंडावाद और निजी स्वार्थ था; मनोविकार थे और आ गया था महंताना ढंग जो प्रायः आज के महंतों में भी पाया जाता है । ऐसे प्रतिद्वंद्वियों के समक्ष मानवता सच्ची धार्मिकता का कोई मूल्य नहीं रहता । उनके धर्म और सिद्धांत उनके स्वार्थों एवं विद्वेषों में गर्भित रहते हैं । उनकी ये क्रियाएँ यदि जन-समूह तक ही परिमित रहनीं तो कोई चिंता की बात न होती किंतु जब वे राज्य में, राजनीति में हस्ताक्षेप करती हैं तब वे विचारणीय हो पड़ती हैं ।

काश्यप ऐसे ही स्वार्थी ब्राह्मण की श्रेणी में आता है जिसकी समस्त चेष्टाएँ निजी स्वार्थ तक ही सीमित रहती हैं । उसके समक्ष उसकी अहमन्यता तो नाचा ही करती थी किंतु वह स्वार्थ-साधना अच्छे-बुरे सब ही प्रकारों से किया करता था । ब्राह्मण-ऋषि महात्माओं ने चिंतन, त्याग, परार्थ, राष्ट्र-हित-कामना के द्वारा जो गौरव प्राप्त किया था उनकी सन्तान होने के कारण उन उच्च गुणों से हीन होने पर भी उनका दुरुपयोग करता है । अकारण केवल ईर्ष्या, अहमन्यता, धनलुपता एवं अविचार के कारण जनमेजय की तक्षशिला-विजय का विरोध करता है । दक्षिणा-प्राप्ति के लिये दौड़ा चला आता है किंतु उत्तंक को महारानी वपुष्टमा द्वारा दिये गये मणिकुंडलों के दान को पैशाचिक अर्थलोलुपतावश सहन नहीं करता । उसकी नीच मनोवृत्ति और कलुष कामना तब देखने को

मिलती है जब वह इन्हीं मणिकुण्डलों के लिये नागराज तत्त्व से मिल षड्यंत्र रचता है। वह कुटिल मनोवृत्ति अन्तिम सीमा पर तब पहुँच जाती है जब वह षड्यंत्र द्वारा महारानी वपुष्टमा का हरण करवाता है, तत्त्व से असंस्कृत अनार्य अधिपति को भी जिसके लिये आश्चर्य हुआ और जो उसके इस कार्य का अर्थ नहीं समझ पाया। काश्यप सदृश राष्ट्रों, राज्यों आदि में अकारण विद्रोह पैदा करनेवाले ब्राह्मण पाये जाते रहे हैं। जब-जब उनकी महत्ता का मान और सत्ता में हाथ रहा है तब-तब ऐसे व्यक्तियों ने विद्वेष और ईर्ष्या के वश ही बड़े-बड़े अकांड तांडव उपस्थित किये हैं। अपने स्वार्थ को भी तिलांजलि देकर उन्होंने ऐसा किया है। यहाँ भारत-काल से बुद्ध के पहिले के प्रागैतिहासिक काल में ऐसे ब्राह्मणों की उद्भावना करना असंभव न था। यही कुत्सित मनोवृत्ति बौद्ध-साधुओं में भी बौद्ध-धर्म के चरम सीमा पर चढ़ कर हास होने के समय दिखाई दी थी।

बौद्ध कापालिक प्रपंच बुद्धि विकट अनीति और आतंक परायण है जिसने अनंत देवी पर अपना इतना आतंक जमा लिया था कि वह हम एक अद्भुत शक्तिशाली समझने लगी थी और जिसका प्रभाव गुप्त महाबलाधिकृत भटार्क पर भी इतना गिरा कि केवल प्रथम दर्शन में ही वह विस्मयविमुग्ध हो गया और बाद में अपनी सद्प्रवृत्तियों को किंचित भी सचेष्ट न कर पाया। असद्प्रवृत्तियों को बलवती हो जाने दिया।

सत्यशील और शान्तिदेव विषयी, लंपटी, मनोविकारग्रस्त बौद्ध-भिक्कुओं के उदाहरण हैं। वास्तव में प्रसाद ने बौद्ध-युग को बड़ी ही सूक्ष्मता से देखा है। उन्होंने उसकी 'करुणा' और मनोविकारग्रस्त पात्र 'निराशावाद', क्षणभंगुरता ही को नहीं देखा है, उसकी विकृति और दोष भी उनके पात्रों में उतर

आये हैं। प्रसाद से सूक्ष्मदृष्टा ने उस काल को, उस काल के जीवन को यथार्थ रूप में प्रकट किया है जिसमें 'आज' की उद्भावना भी निस्संकोच की जा सकती है।

आद्यकालीन विषयी बौद्ध महंत के समान सत्यशील खाने-पीने, मौज उड़ाने में रत है। ब्रह्मचारी रहते हुए भी रखेलियें रखता है। उसे अनाप-शनाप आमदनी है और राजकर से मुक्ति है। धर्म और तथागत की दुहाई देना, आत्मा को धोखा देकर कामवासना की पूर्ति के साधन जुटाते रहना उसके कार्य हैं। सत्यशील का पाखंड, ऐसे महंतों की स्थिति अक्षम्य अपराध है। शान्ति भिक्षु के प्रति उसके अनेक कुटिल कृत्यों के होते हुए भी हमारी सहानुभूति खिंच ही जाती है। सत्यशील में कायरता, सशक्त से दबने और अशक्त पर अत्याचार करने की भावना है। उसके चरित्र का थोड़ा ही अंश नाटक में चित्रित है। शान्तिभिक्षु का खरापन उसकी साहसिकता, उसकी बौद्धिक कुशाग्रता हमें उसके दोषों पर अधिक विचार न करने के लिये बाध्य कर देती है। वह भिक्षु था। भिक्षु होते हुए भी उसकी सुरमा पर आसक्ति थी। सुरमा को प्रेम करते हुए भी राज्यश्री के मोहक रूप-सौंदर्य के आकर्षण और उसे अपना बनाने की लालसा को वह निकाज नहीं सकता था। वह युवक था। वह लाचार था। वह स्वयं भिक्षु नहीं बना था। उसके पिता ने उसके अज्ञान में, बाल्यावस्था में, उसे बौद्ध-मन्दिर में सौंप दिया था। धार्मिक कठोरता, संयतता उसके हृदय और मनोराज्य की सीमा के परे थी। वह जानता था कि राज्यश्री का मिलना उसके लिये दुष्कर था, असंभव था, किंतु उसका स्वयं पर अधिकार नहीं था। कहाँ वह एक साधारण भिक्षु और कहाँ राज्यश्री, एक राजरानी। ऐसी अवस्था में एक भयंकर प्रतिक्रिया भी—विशेष कर तरुणाई में—हुआ करती है। 'प्रसाद' की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति और अनुभव ने इसे भी शान्ति भिक्षु के रूप में अंकित

किया है। वह राज्यश्री को पा नहीं सकता है। सुरमा उसे छोड़ कर चली जाती है। निराश, तरुण शांतिभिन्नु साहसिक ॐ हो जाता है। साहसिक ही नहीं, विकट साहसिक। दो-दो सेनाओं के बीच में से 'राज्यश्री' को उड़ा ले जाना कम साहस का काम नहीं था, यद्यपि युद्ध-जनित अव्यवस्था अवश्य थी। नरेन्द्रगुप्त की प्रेरणा पर राज्यवर्द्धन का वध करना उसकी अप्रतिम दुस्साहसिकता का परिचय है। अन्त में भेष बदल कर जब इर्ष के दान के समय कान्यकुब्ज पहुँचता है तब उसकी बुद्धि भी तत्परता और कुटिलता के दर्शन भी हो जाते हैं। उसमें सहसा परिवर्तन हो जाना और काषाय धारण कर लेना बौद्ध-ग्रन्थों के अनुरूप तो हुआ है किंतु ऐसे स्थलों पर उन ग्रन्थों में धर्म प्रचार की जो भावना पाई जाती है, उसी का दर्शन है, न कि मानव-स्वभाव-ज्ञान का।

महात्मा गौतम के प्रति देवदत्त का विरोध परकीर्ति-असहिष्णुता की मानव-स्वभाव में पाई जानेवाली बलवती प्रवृत्तिवश ही हुआ है। उन पर जनता में विभिन्न दोषारोपण करना और राज्य में उनके विरुद्ध स्थान ग्रहण करना उक्त सहज प्रवृत्ति का ही पोषण करता है।

इर्ष, विवसार राज्यश्री और स्कन्दगुप्त निवृत्तिपरायण पात्र हैं। पद्मावती भी इसी श्रेणी में आती है किंतु उसका चित्रण गौण और अत्यल्प हुआ है। अज्ञातशत्रु के संपर्क में निवृत्ति-परायण थोड़ा सामानवी कदना के प्रदर्शन के लिए तो वह आवश्यक है किंतु इसके पश्चात् उसका चित्रण नाटक की मूल कथा वस्तु से कुछ संबंध नहीं रखता। वह तो केवल अपनी मा के अनुरूप पिता के समान भगवान् बुद्ध के उपदेशों

ॐ प्रसाद का डाकू के अर्थ में साहसिक शब्द का प्रयोग करना सुन्दर हुआ है; यथा स्थान शब्दों के चुनाव की क्षमता प्रकट करता है।

से से प्रभावित हुई है और उसकी करुणा हृदयगत है जो बाद में उदयन के व्यवहार द्वारा और बढ़ गई है। इस करुणा का परिचय केवल एक स्थान पर पहिले अंकों में मिलता है जहाँ वह क्रूर प्रवृत्ति कुमार अज्ञातशत्रु को मृगशावक का सिंह से खेत देखने के लिए वर्जित कर देती है। इसके पश्चात् वह क्या मगध और क्या कौशाम्बी दोनों जगह गृह-भ्रमण की अग्नि में झुलसती हुई दिखायी गई है।

हर्ष और राज्यश्री की निवृत्ति-परायणता परिस्थिति जन्य ही है। स्वभावतः भूल रूप में यह रही हो किन्तु परिस्थितियों के भिन्न होने पर वह बदल भी जाती। राज्यश्री अबलता है। उसमें अबलोचित कमजोरियाँ हैं। उसका शत्रु उसका रूप सौंदर्य भी है। इसी ने शान्ति भिक्षु को आकर्षित कर उसके लिए विकट परिस्थिति पैदा कर दी। इसी के कारण देवगुप्त भी उसकी ओर खिंच गया। राज्यश्री उस समय की श्रेष्ठतम सौंदर्यशाली ललना के रूप में हमारे सामने आती है। जैसे पद्मावती और कृष्णकुमारी बाद में इसी सौंदर्य की आग के कारण स्वयं भस्म हो गईं, उसी प्रकार राज्यश्री की भी इसी ने विडंबना करवायी। मृत्यु से अधिक वैधव्य दुःख जीवन भर सहन करवाया। राज्यश्री का त्याग, तितिक्षा, क्षमा, करुणा न केवल स्त्री उचित हुई है किन्तु वह अलौकिक और आदर्श सी हो गई है। शान्तिप्रिय, सुरमा, नरेन्द्रगुप्त के प्रति उस ही क्षमा, जीवनदान का प्रसंग उसके बौद्ध धर्मोचित त्याग और आदर्श के अनुकूल है। राजश्री नाटिका की वह मुख्य पात्रा है ही और उसी के अनुकूल चित्रांकण सुन्दर और योग्य हुआ है। केवल उसको प्रवृत्ति की परिस्थिति जन्य में इसीलिए मानता हूँ कि उसके पति ब्रह्मवर्मा के निधन के कारण ही उसे एक जबरदस्त ठेस पहुँची, नहीं तो बौद्ध मतानुयायी होने पर भी वह राज्य या युद्धादिक कार्यों से पूर्णतया विरक्त नहीं रही है। पति निधन के पश्चात् एक रूपवती हिंदू विधवा

के जीवन की झँकी राज्यश्री में प्राप्त होती है। परिस्थितियों, राज्यवर्द्धन के निधन एवं राज्य-संघर्षों ने उसमें इतनी निवृत्ति, उदासीनता, वैराग्य वृत्ति ला दी थी कि सम्राज्ञी होने पर भी उसके जीवन से मानवी करुणा रंचमात्र भी दूर नहीं हुई। साम्राज्य तक को उसने इसी की आराधना में लगा दिया। उसकी निवृत्ति-परायणता, त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, मानव-सेवा-मुखी हो गये।

ग्रहवर्मा एवं राज्यवर्द्धन के निधन तथा उसकी एक मात्र भगिनी राज्यश्री के वैधव्य ने हर्ष के स्वभाव और प्रवृत्तियों पर बड़ा प्रभाव डाला। राज्यश्री के प्रेम ने ही प्रतिहिंसा, युद्ध-प्रवृत्ति का मुख दूसरी ओर फेर दिया। शत्रुता क्षमा में बदल गई। जो युद्ध भावना पहिले विजय और महत्वाकांक्षा की सूचक थी वह भारत को एक संस्कृति प्रदान करने, एक राष्ट्र में, एक सूत्र में पिरोने, उसे सुशासन और सुदृढ़ शासन प्रदान करने की ओर उन्मुख हो गई। राज्यश्री के आदेश पर उसने शांतिदेव, सुरमा और नरेन्द्रगुप्त सदृश घोर शत्रुओं को प्राण दान दे दिया। पुलकेशन से बिना युद्धादि के समानता की संधि कर ली। ये सब घटनाएँ उसमें परिस्थिति जन्य विराग की ही सूचक हैं, जिन्होंने उसे बाद में सर्वस्व दान करने की ओर प्रवृत्त करने की ओर प्रेरित किया, साम्राज्य संभालना उसके लिए आवश्यक होगया था। इसलिए उसने उसका अपने आदर्श के अनुसार सर्वोत्तम उपयोग किया उसके श्रेष्ठ आदर्श, उच्च कार्यों में समय के व्यवधान से दोष आगये थे, जैसा कि साधु-वेषधारी शांतिभिन्नु और सुरमा सदृश हत्यारे और डाकुओं की दान-प्राप्ति से प्रकट होता है।

कोशल-सेनापति बंधुल-पत्नी मल्लिका में नव-विवाहिता नारियों का वैधव्य एवं उनकी गंभीर मनोव्यथाओं, वैराग्य, क्षमा, बौद्धधर्म की ओर झुकाव, जो संसार की क्षणभंगुरता और वैराग्य जनित होता है,

की प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है। मल्लिका अपने पति के हंता विरुद्ध की घायलावस्था में सेवा करती और उसके लिए प्रसेनजित् से जिस पर उसके त्याग और क्षमा के कारण प्रभाव पड़ा था, आग्रह करती है कि वह उसे क्षमा करदे और पुनः वंचित राज्याधिकारों को लौटा दे। उसे पुनः पुत्र के रूप में बिना नीच-ऊँच भेद के, मानव सिद्धांत के आधार पर ग्रहण करे। उसके हृदय की विशालता, उसका धैर्य, आत्मा की शक्ति तब देखने को मिलती है जब उसे पति के निधन का समाचार मिलता है और उसी समय अविचार भाव से वह महात्मा गौतम का स्वागत-सत्कार करती है।

महाराजा बिम्बसार और स्कंदगुप्त की निवृत्ति-परायणता, वैराग्य-वृत्ति और सहज उदासीनता स्वभावजन्य हैं। वे उनकी रग-रग में समाई हुई हैं। सम्राट होते हुए भी क्षण भर को बिम्बसार वे उनसे दूर नहीं होतीं। उन्होंने साम्राज्यों, युद्धों का संचालन किया, अंतर्द्वंद्वों एवं संघर्षों का सामना किया, किंतु उन्हें वे अपने से विलग नहीं कर सके।

साम्राज्य को त्यागने के पहिले ही महाराज बिम्बसार सोचते थे “आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीचे पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे हुए अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसका शांतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है चाहे फिर गिरे भी तो क्या?”

इसी जन्मजात प्रवृत्ति पर महात्मा गौतम का प्रभाव पड़ा था। यही अन्त तक बनी रही। किंतु वे महात्मा न थे, परमहंस न थे। वे गृहस्थ थे, सम्राट थे, राज्य के भोक्ता थे। इसीलिये उनमें 'शीतल वाणी', 'मधुर व्यवहार' अवश्य छलना सदृश महत्वाभिलाषिणी नारी के सम्बन्ध तक नहीं रह सका। उनका "वोक् संयम" जो 'विश्व मैत्री की पहिली सीढ़ी है' तक अवश्य नहीं पहुँच पाया था। वह "संसार भर के उपद्रवों के मूल व्यंग" तक भी पहुँच गया था। व्यंग-भी बिबसार में अंत तक रहा। अंत में अज्ञात का जब पूर्व क्रूर स्वभाव धुल गया था, उसे 'मानवी करुणा' की दृष्टि से नव-जीवन प्राप्त हो गया था तब भी बिबसार जब उन्हें अज्ञातशत्रु के आगमन की सूचना मिलता है पृछते हैं, "कुणिक कौन ! मेरा पुत्र या मगध का सम्राट अज्ञात शत्रु" और जब स्वयं अज्ञातशत्रु कहता है, "पिता, आपका यह पुत्र कुणिकसेवा में प्रस्तुत है" और चरणस्पर्श करता है तब भी बिबसार की व्यंग-वृत्ति उबल ही पड़ती है। वे अपने को यह कहने से रोक न सके कि "नहीं, नहीं, मगधराज अज्ञातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए।"

इस प्रसंग के अतिरिक्त सर्वत्र उनकी उसी मूल प्रवृत्ति का ही चित्रण और पोषण हुआ है। वे निस्पृहता वश साम्राज्य को अपनी जीवितावस्था में ही छोड़ देते हैं और वाणप्रस्थी हो जाते हैं। क्षुब्धता के कारण उपस्थित होने पर भी उनका चरित्र बचता ही रहा। वाणप्रस्थावस्था में भी वे स्वतंत्र नहीं रह पाते हैं जैसा कि राजनीतिक उथल-पुथलों के समय प्रायः आवश्यक रहता है। उन्हें तो आरिमक पीड़ा इसीलिये होती है कि वे भिक्षुओं को, याचकों को ऐसी अवस्था में दान नहीं दे सकते। उनके चरित्र की महानता वहाँ है जहाँ राज्य त्याग कर भी उन्हें दुःख नहीं होता। वे विचलित नहीं होते जब कि उन्हें यह

सूचित किया जाता है कि देवदत्त गौतम के कारण उनके प्राण लेने की चिंता में है।

उनके अवसान के पूर्व अंत में भी इसी प्रवृत्ति का पोषण होता है जो दर्शन, काव्य और प्रसाद के मानवी चिंतन का उत्कृष्ट नमूना है। बिबसार सोचते हैं, “मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता ग्रहण कर सकता है? हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है? क्या निर्मल-ज्योति-तारागण की मधुर किरणों के सदृश सद्वृत्तियों का विकास तुझे नहीं रुचता? भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अंतःकरण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है? जीवन की शान्तिमयी परिस्थिति को छोड़ कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा? यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के कुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता। उस अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिला कर कितना सुखी होता!”

स्कंदगुप्त भी निवृत्ति-परायण, बौद्ध-निराशावाद का आश्रयी वीर राजकुमार है। उसमें ‘चंद्रगुप्त’ के समान राष्ट्रीय, भारत हित-चिंतना की भावना भी है जिसमें विश्वहित, मानव-कल्याण सन्निहित है और जो कि भारतीय संस्कृति की सर्व श्रेष्ठ देन है।

स्कंदगुप्त की वीरता, आशा-निराशा, कल्याण-कामना महात्मा गांधी के समान ही हैं। असहयोग आंदोलन के पश्चात् अवतार एवं महात्माजी संबंधी जो विचार धाराएँ उद्गत हुईं उनका प्रभाव प्रसाद पर भी पड़ा है। इसी प्रकार के अवतार का सिद्धांत स्कंदगुप्त के लिये कमला द्वारा भी कहलाया गया है। वास्तव में स्कंदगुप्त के

चरित्र के मूल में आदि से अन्त तक निवृत्ति परायणता, बौद्ध निराशा और त्याग एवं भारत-हिन कल्याण की भावना भरी हुई है। बौद्ध निराशा वाद ऐसा नहीं है जिसमें मनुष्य बिल्कुल निष्क्रिय हो जाता है। निराशा को, क्षण भंगुरता को वह एक और अन्तिम सिद्धांत के रूप में समझता है। संसार के मूल में इसे मानता है किंतु इसके होते हुए सांसारिक कार्यों में गृहस्थों के भाग लेने को वह अनुचित नहीं समझता। इसी प्रकार की भावना स्कंदगुप्त के चरित्र में भी चित्रित की गई है। वह राजकुमार है, वीर है, तेजस्वी और होनहार है। उसमें महानता है। उसने युद्ध-विग्रहों और राजनीति में भाग लिया है, उसने प्रेम किया है, प्रेम ने उसे आकर्षित किया है। तरुणाई ने प्रेम की उमंगें उसमें पैदा की हैं। किंतु इन सबसे नीचे की तह में वही निराशा है। किंतु वह निराशा नहीं जो उत्साह का अभाव सूचित करती है हँसते हुए महात्माजी के दिमाग एवं आँखों में भी एक गंभीर विपाद, मानव कल्याण की सर्वाधिक हितचिंतना समाई रहती है। युग-युग के शृंगार इस महान् व्यक्ति में हम कई दोषों की उद्भावना कर लेते हैं। भारत के हित की दृष्टि से वास्तवः वे हमें उचित भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि महात्माजी बड़ी सावधानी से, सतर्कता से फूँक-फूँक कर एक एक पैर उठाते हैं। वे यह भी नहीं चाहते कि शत्रु की उनसे हानि हो, किंतु भारत का हित भी होता जावे। यः हो तो नहीं पाता। शायद हो भी नहीं सकता। किंतु वे सोचते और करते ऐसा ही हैं। इसीलिये उतावले और उन्हें ऊपर से देखनेवालों को उनके कार्य सदोष दिखाई देते हैं; किंतु जिसने समूचे मानव को एक समझा है। उसके समक्ष क्या भारतवासी और क्या यूरोपियन दोनों एक हैं। क्या रंक और क्या राजा? कोई भेद वे मानव की दृष्टि से उनमें नहीं करते। उनके अन्दर

तो संतुलन, समन्वय एवं भारतीय साम्यवाद की भावना रहती है जिसमें सब छोटे-बड़े ग्रह अपने-अपने स्थान पर अपना कर्तव्य पालन करते रहते हैं। अस्वाभाविक समानता के नहीं, वे तो स्वाभाविक साम्य के पक्षपाती हैं, जिस पर प्राचीन भारत निर्भर था। स्कंदगुप्त में हम यही पाते हैं।

जो स्कंदगुप्त प्रारंभ में ही यह कहता है कि “अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है? अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।” “जो कुछ हो हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।” अन्त में भी वह इसी प्रेरणा को प्रश्रय देता है। “देवसेना! एकांत में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं एक बार कह दो”।

उक्त मूल भाव के होते हुए भी वह निष्क्रिय नहीं रहा प्रत्युत उसाह पूर्वक, वीरता के साथ, “अकलो चलो चलु रे—” की उक्ति को चरितार्थ करता हुआ आगे ही बढ़ता रहा है। उसे अधिकार अथवा साम्राज्य नहीं चाहिये। साम्राज्य प्राप्त कर उसे उसने पुरगुप्त के लिये निष्कंटक छोड़ दिया, इससे बड़ा त्याग और कौन कर सकता है?

वृद्ध पर्णदत्त के प्रति उसको श्रद्धा और भाव उसमें विनयशोभता का परिचय कराते हैं। वृद्ध मगध-महानायक पर्णदत्त की लांछना एवं प्रेरणा पर उसमें सक्रियता जो अब तक सोई हुई थी जाग्रत हो जाती है। वह उसाह से परिपूर्ण हो जाता है। मालव के सहायता माँगने पर अकेला ही तैयार हो जाता है। वह देश-रक्षा की, हूणों के आक्रमणों से रक्षा करने की इद प्रतिज्ञा कर लेता है और उसके अनुसार कार्य करने को अग्रसर हो जाता है। सम्राट कुमारगुप्त के निधन पर उसे प्रलोभन उसके सुचिंतकों की ओर से दिया जाता है कि वह मगध-राज्याधिकार प्राप्त करे। वह प्रलोभन, इसलिये भी कि पुरगुप्त के निर्बल हाथों से

शासन निकल कर उसके सुदृढ़ हाथों में आ जावे ताकि मगध और समस्त उत्तरापथ का हूणों से त्राण हो। किंतु इस मूल्य पर भी उसकी महानता, उसका त्याग राज्य-सूत्र पुरगुप्त के हाथ में ही रहने देना अनुचित नहीं समझती। वह केवल यह आकांक्षा रखता है कि मगध हूणों से मिल कर उसका विरोध न करे। उसके विरुद्ध पङ्थन न करे। भटार्क और अनंतदेवी को भी—उसकी माता देवकी के वध-इच्छुकों को भी—क्षमा प्रदान कर वह अपनी अपूर्व क्षमाशीलता और महानता का परिचय देता है। हूण-निष्कासन की उसने जो प्रतिज्ञा की उसे पूर्ण कर के दिखाई। कर्तव्यप्रेमी वह इतना था कि शक्ति और सहायता, अधिकार के होते हुए भी वह एक सैनिक बन कर लड़ना ही अधिक पसंद करता है। इस सैनिकत्व की सुन्दर भावना का निदर्शन उस समय भी होता है जब अनिवार्य आवश्यकतावश और कदाचित् मगध के अन्तर्विद्रोह को शमन करने के लिये या वह बलवान न हो उठे इसलिये भी स्कंदगुप्त को मालव के सिंहासन पर बंधु वर्मा आदि अधिष्ठित करते हैं तब वह उसे केवल अनिच्छापूर्वक ही ग्रहण करता है। वह कहता है, “तात् ! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं, अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है; इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सँझूँगा, सम्राट नहीं”, उसमें आश्रित रत्ना और उच्च कोटि की क्षमाशीलता का भाव भी ओतप्रोत है। मगध सम्राट ने मांडलिक मालव की रक्षा का भार लिया था। स्कंदगुप्त ने अपने इस कर्तव्य का प्राणपण से पालन किया। उसने न केवल भटार्क और अनंत देवी को पहिले एक बार छोड़ दिया था। बाद में भी वह भटार्क को कमला के कारण क्षमा कर देता है। रामा के कारण शर्वनाग को न केवल क्षमा करता है किंतु अन्तर्वेद का विषय-पति बना देता है। प्रसाद ने उसके युद्ध-संचालन और सक्रिय वीरता का भी परिचय कुभा के युद्ध-क्षेत्र, गांधार की घाटी में युद्ध को चित्रित कर दिया है। इस

समय उसमें वही गाँधीजी की ही नीति काम करती है। भटार्क पर उसे विश्वास नहीं है किंतु अन्त तक वह उसे मौका देता है कि वह देश, आर्य-राष्ट्र के सम्मान का एक भारतीय के नाते ख्याल करेगा। इससे वास्तवतः उसमें दोष दिखाई देता है और इच्छा होती है कि उसने यदि यह त्रुटि न की होती तो उसके प्रयत्न असफल न होते किंतु उस समय तो वह भटार्क पर प्रत्यक्षतः अविश्वास भी प्रकट नहीं कर सकता था। परिस्थिति जटिल और भयावह हो गई थी। उसके एक योग्य शासक होने का परिचय भी हमें मिलता है। कभी-कभी उसमें जो यह दोष दिखाई देता है कि वह समय समय पर निराशा और उदासीनता के भावों को प्रश्रय दे डालता है। यह निराशावाद के कारण नहीं, उसकी मूल अन्तः-प्रवृत्तियों के कारण स्वभावतः हुआ है। कलाकार भविष्यदृष्टा और भविष्य का पथ-प्रदर्शक होता है इसका प्रसाद में पूर्ण परिचय मिलता है। जो घटनाएँ आज घटित हो रही हैं उसे प्रसाद पहिले ही लिख चुके हैं।

यह तो उसके चरित्र का वह भाग है जहाँ उसके जीवन में संघर्ष ही संघर्ष है किंतु उसमें तरुण स्कंदगुप्त भी व्याप्त था। यह उसके विजया और देवसेना के संबंधों से ज्ञात होता है। यहीं उसके प्रेम की उत्कटता, पूर्णता, उज्ज्वलता, महानता का भी परिचय मिलता है।

विजया के प्रति स्कंदगुप्त का जो आकर्षण हुआ वह शारीरिक और तरुणार्थ जनित ही कहा जायगा। उसके रूप-सौंदर्य, चोचन का आकर्षण था किंतु इस आकर्षण का प्रसादजी ने एक चालिक आभास तो दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि स्कंदगुप्त के अन्दर प्रेमाङ्कुर पहिले से ही पैदा हो गया था, किंतु विशेष दृढ़ता उसमें प्राप्त हुई हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। तरुणार्थ में, अविवाहित जीवन में, इनके पहिले भाग में प्रायः मन खिंचा खिंचा फिरता है। वह एक स्थान पर स्थिर नहीं हो

पाता। इस समय केवल तरुणाई, अल्पवय ही प्रेमांकुर पैदा करने के लिए पर्याप्त होती है। विजया के प्रति स्कन्द का इसी प्रकार का प्रेम प्रकट होता है। इसका एक लीण आभास उस समय मिलता है जब देवसेना से ईर्ष्यावश उसको वह बलि देना चाहती थी। प्रपंच बुद्धि के पास श्मशान पर ले जाती है। वहीं भटार्क आ उपस्थित हुआ था किंतु मातृगुप्त द्वारा इसका रहस्योद्घाटन हो जाता है और सब स्कन्द के समक्ष पेश किये जाते हैं। तब आंतरिक ईर्ष्या की प्रतिक्रिया द्वारा विजया भटार्क को ही अपना पति बरन लेने और जीवन मरण में साथ रहने की बात कहती है। इसके पश्चात् स्कंद के हृदय में जो छोटे से छोटा प्रेमांकुर उत्पन्न हुआ था वह आगे जीवित रहा हो इसका कोई भी कथन नहीं मिलता क्योंकि दूसरी बार जब स्कंद की विजया से भेंट होती है तब वह निराश होकर भगध से लौट आई थी और हथर गांधार की घाटी में स्कन्दगुप्त के प्रयत्न असफल हो चुके थे। वह उसे धन सम्पत्ति का लालच देकर अपने से विवाह करने के लिए प्रेरित करना चाहती है किंतु दृढ़ निश्चयी, देवसेना के त्याग और प्रेम का कायल स्कन्द विचलित नहीं होता। विजया की आकांक्षा की अवहेलना कर वह एकाकी रहना, दुःख उठाना पसंद करता है। यह उसके दृढ़-चात्स्निक की महत्ता प्रकट करता है।

देवसेना के प्रति प्रेम एवं कर्तव्य का घड़ा ही भव्य रूर हमारे समक्ष उपस्थित होता है। यह तो उसके चरित्र से स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि पहिले देवसेना पर कोई विशेष प्रेम रहा हो। हाँ देवसेना में वह बहुत पहिले से उदय होगया था जो सात्विक त्याग समान्वित था और जिसने अंत में एक उच्चादर्श को स्थापित किया। प्रेम की भव्यता और उच्चता को प्रकट किया। देवसेना के प्रति स्कंद में प्रेमांकुर के साथ ही कर्तव्य-प्रेरणा अधिक ज्ञात होती है। वह प्रेरणा भी बंधुवर्मा के वीरगति

प्राप्त होने के पश्चात् और भी बलवती और तीव्र होगयी थी। इसीलिए सहज उदासीन वृत्तिवाले स्कन्दगुप्त ने अपने प्रयत्नों में असफल होने पर भी एकाकी जीवन को सार्थक करने के लिये, देवसेना की निम्न, दबी, निर्धन स्थिति को देख कर बंधुवर्मा, उसके प्रबल सहायक, दाहिने हाथ; उसके प्रति उच्चतम त्याग करनेवाले और अब वीरगति प्राप्त बंधुवर्मा के प्रति कर्तव्य के लिए देवसेना से बार-बार एक सूत्र में बंध जाने के लिए आग्रह किया। इसके लिए उसने बंधुवर्मा की इच्छा का भी आश्रय लिया किंतु वह देवसेना को फिर विचलित नहीं कर पाया। स्कंद में संभवतः प्रेम के स्थान पर कर्तव्य की भवना रही है। नारी देवसेना ने इसीलिए उसके लिए आग्रह को उच्चतम त्यागपूर्वक छोड़ दिया। स्कन्दगुप्त की इस मनोग्थिति का पता देवसेना के निम्न कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि देवसेना स्कंद को हृदय के अंतरतम भाग से चाहती थी। वह नारी थी। प्रेम के लिए ऊँच से ऊँचा त्याग कर सकती थी। आजीवन स्कंद को चाहना और कुमारी रहना यह एक उच्चतम उसका त्याग था। वह स्पष्टतः स्कंद से कह देती है "सो न होगा सम्राट् ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगा ?" इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रसाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भी परिचित थे कि नारी कैसे आत्मा के बल पर दूर से ही मनुष्य के मस्तिष्क को पढ़ लिया करती है और मनुष्य नारी के संबन्ध में कैसी आंत धारणा भी प्रायः बना लिया करता है। इस प्रसंग के पश्चात् पुनः जैसे अपनी पूर्व स्थिति में लौट आया हो। अब वह विजयी होगया था। पुरगुप्त अपने लघु भ्राता के लिए निष्कंठक साम्राज्य विजय करके छोड़ चुका था और लौट चला था अपने वही एकाकी जीवन की ओर। उसे

विजय मिली थी किंतु उसका सुख नष्ट होगया था। अब स्कंदगुप्त विजयी किंतु क्षत-जर्जर स्कंदगुप्त था ! उसके सच्चे बंधु, सहायक दूर हो गये थे। युद्ध में मर चुके थे। एक देवसेना उसकी सेवा में निरत थी वह भी आज उससे यह कह कर कि “मैं मृत भाई के स्थान पर यथा-शक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुटी मिले” जाने को, उसे छोड़ने को तैयार है। स्कंदगुप्त का वह अन्तिम कथन कितना मार्मिक हो गया है जो उसके जीवन की अन्तिम स्थिति, ध्येय, चरित्र पर भी प्रकाश डालता है। “देवी ! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक-दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अंतर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये। परंतु इस नन्दन की वसंत श्री इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय में तुम्हें रोक्कूँ ? “देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। इतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह !!” कितनी मार्मिक व्यथा का चित्रांकण प्रसाद स्कंद में कर सके हैं वही जान सकते हैं जो इस स्थिति में पड़े हों।

एक राष्ट्रभक्तों एवं राष्ट्र विरोधियों की श्रेणी भी प्रसाद में हमें दृष्टि-गोचर होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य व चन्द्रगुप्त गुप्त, सिंहर्षण, बंधुवर्मा, भीमवर्मा, भण्डि आदि की गणना हम देश-भक्तों में राष्ट्रभक्त एवं एवं आरम्भिक, भयार्क आदिकी गणना देश-द्रोहियों में राष्ट्र-द्रोही पात्र कर सकते हैं। चाणक्य, पर्यादत्त, गोविंदगुप्त भा देश भक्तों की एक विशेष श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

सिंहर्षण, बंधुवर्मा एवं भीमवर्मा से हम मालव को ही ग्रहण कर लें तो कुछ अनुचित न होगा और इसीलिपे राष्ट्रहित-चिन्तना में मालव का एक विशिष्ट स्थान उस युग में मानना भी अनुचित नहीं है। इनका देश-

हितार्थ त्याग प्रशंसनीय ही नहीं है आदर्श अनुकरणीय है। स्वमानाप-
मान को कुछ न समझ कर देश को सर्वोपरि समझने की भावना भारत
के चिरकालीन भविष्य, आदर्श की भी पथ प्रदर्शिका है।

बंधुवर्मा का स्कंदगुप्त के लिये सिंहासन त्याग कर एक साधारण
सेनापति हो जाना; युद्ध में भयंकर स्थलों में पड़कर प्राण देना, भीम
वर्मा का निर्विरोध अपने अग्रज की आज्ञा मानकर उसका अनुकरण
करना दोनों वर्मा बंधुओं के अनुपम त्याग का परिचायक है।

भटार्क सदृश नीचों का चरित्र भारत सदृश महादेश को अवश्य
तंग किया करेगा। उसमें न केवल स्वार्थ का किंतु देश-द्रोह का भी
निम्न स्तर था। केवल महत्वाकांक्षा ही न थी किंतु विदेशियों के चरण
चूमने की प्राणघातक नीति की कुटिलता भी थी। अनंत देवी का ही
मोह नहीं था किंतु नीचता की पराकाष्ठा भी थी। एक बार जब स्कंद
ने उसे बंदीगृह में माता देवकी के वध करने को तत्पर होने के अपराध
में क्षमा कर दिया था तब पुनः उसका स्कंद के विरुद्ध कुचकों का सृजन
करना, प्रपंचबुद्धि की बातों में आ जाना, उसके कलुषित हृदय और
आरिश्यहीनता का ही परिचय देते हैं। ये मानविक कमजोरियों नहीं,
चरित्र-गठन की विशेषताएँ ही हैं। कुमार के रणक्षेत्र में भी विदेशियों,
अत्याचारियों से युद्ध के समय उसका विश्वास देश-द्रोह ही नहीं अक्षम्य
अपराध है।

गौडेश्वर नरेन्द्रगुप्त के चरित्र की समता भी भटार्क से ही की जा
सकती है जिसने राज्यवर्द्धन से मिल कर षड्यंत्र द्वारा उनका वध कर-
वाया। उसके द्वारा की गई हत्या कुटिल राजनीति की परिधि के अन्दर
भी नहीं आती है। हाँ कुटिल राजनीति की दृष्टि से देवगुप्त का चरित्र
विलासी, कपटी होते हुए भी ध्यान देने योग्य है। उसके चरित्र में

अवश्य राजनीति-कुशलता का अच्छा परिचय दिया गया है। उसका चरित्र व्यक्ति रूप से कुछ दूषित है किंतु वह राजा-गणों की मनोवृत्ति का ही परिचायक है और यद्यपि अंत में एक बड़ी शक्ति के कारण उसकी पराजय और अवसान हुआ किंतु एक साधारण शक्तियुक्त नृपति के बुद्धि-कौशल का परिचय देवगुप्त में हमें भली भाँति मिल जाता है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से उसका चरित्र राज्यश्री के बाद हर्ष के समकक्ष महार का ठहरता है।

। 'स्कंदगुप्त' नाटक में पर्यादत्त का चरित्र बड़ा ही भव्य, भारत-गौरव के रक्षण करनेवाले वृद्ध महानायक के योग्य हुआ है। इस वृद्ध का मगध-प्रेम, देश-प्रेम की उत्कट लगन, देश की दुर्दशा का घोर दुःख, उसके जीवन की महत्ता उसके चारित्र्य की अलौकिकता, उसकी संघटन शक्ति, पराक्रम की एक जीविन कहानी है। वृद्ध होते भी अदम्य उत्साह, लगन, देश-हित-चिंतन है। स्कंद जो प्रायः राज्याधिकारों से उदासीन था, जिसे युद्ध, विग्रह और संघर्ष प्रिय न थे, जो एकाकी जीवन को श्रेष्ठ समझता, वैभव से दूर भागता था किंतु जिसमें महानता, वीरता के चिह्न थे उसे स्वदेश सेवा के लिये प्रेरित करने का श्रेय पर्यादत्त को ही है। नहीं तो शायद स्कंदगुप्त गौतम के सदृश ही कोई अन्य धार्मिक, प्राणीमात्र-हित-चिंतक महात्मा हुआ होता। स्कंदगुप्त को प्रेरणा, उत्तेजना, समय-समय पर साहस, वृद्ध पर्यादत्त से ही प्राप्त होता रहा और वह आगे बढ़ता रहा। पर्यादत्त की यौद्धिक वीरता के दिन पीछे चले गये थे किंतु इसलिये इसका चित्रांकण तो करना प्रसाद को अभीष्ट नहीं था किंतु स्कंदगुप्त की वीरता, संघटन शक्ति आदि में से एक बड़े भाग का श्रेय पर्यादत्त को भी मिलता है। विकट परिस्थिति में वह स्कंद से कहता है, "कुछ चिंता नहीं युवराज, भगवान् सब मंगल करेंगे।" वह एक आदर्श स्वामिभक्त सेवक था जिसने जीवन भर गुप्तों की हृदय से

सेवा की। अंत में भी जब कुभा के रण क्षेत्र में सब प्रयत्न भटार्क की नीचता, देश-द्रोह, पड्यंत्र से असफल हुए वह सब बिखरी हुई शक्तियों को भीख माँग-माँग कर एकत्रित, संघटित करता रहा। अपने दुःख के दिनों में भी अदम्य लगन और उत्साह से एक युवक के समान मंगल-मय भविष्य की प्रतीक्षा में देवपेना को लिये सब कष्टों का सामना, अत्याचार और अपमान की लांछना फूलों के समान सहता रहा किंतु पथ से विचलित नहीं हुआ। मर नहीं गया। देवकी की समाधि के निकट अपनी आराधना-साधना की कुटी निर्माण कर स्कंद के लिये मार्ग प्रशस्त करने में संलग्न बना रहा। वास्तव में चाणक्य से पर्णदत्त का चरित्र-चित्रण किसी भी प्रकार हीन नहीं हुआ है। चाणक्य की सेवाएँ कथित और प्रकट हैं और पर्णदत्त की मूक। चाणक्य के समान ही वह "राष्ट्र-नीति" को "दार्शनिकता और कलना के लोक" से परे समझता है। वह राजनीतिज्ञ है और इसलिये आदर्श के स्थान पर वास्तविकता को अधिक श्रेय देता है। पर्णदत्त के चरित्र में यही विशेषता दिखाई देती है।

'प्रसाद' के कतिपय अन्य पात्र ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के हैं। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा ही नहीं हुई अन्य अमुख पात्र है किंतु आधुनिकता, मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं स्थायित्व भी प्रसाद ले आये हैं। इसमें संदेह नहीं उनके पात्र ऐतिहासिक होते हुए भी आदर्श हैं और इसीलिये अमरता को लिये हुए हैं किंतु उनका आदर्श यथार्थवाद का सहोदर ही है। उनकी कल्पना इतनी अलग-अलग मानव जीवन से नहीं गई है कि उनका आदर्श कोरा आदर्श ही रह जावे अथवा सुदूर भविष्य में भी कार्यान्वित न हो सके। अतएव यथार्थवादिता के होते हुए भी उनके पात्रों

पर इन वादों से परे होकर विचार करना ही योग्य है। उनके पात्रों में आदर्श, भारतीय संस्कृति और उसकी अमरता, भारत की चिर कठिनाइएँ और समस्याएँ तथा उनके हल भरे हुए हैं और उनके प्रमुख पात्रों को भी जब हम आदर्शवादिता की सीमा में नहीं ला सकते तो अमुख अन्य पात्रों का लाना तो शायद प्रसाद के साथ ज्यादातर करना है। वास्तव में उनके नाटकों के पात्र आदर्श नहीं बल्कि ऐतिहासिक और प्रेमचंद के समान हमारे युग के, हमारे भारत के ही हैं जिनमें भूत और वर्तमान का सुन्दर सामंजस्य और भविष्य का गौरवमय पथ-प्रदर्शन है। सांसारिकता भी उनमें है। संसार के सुख-दुख उनके हैं यद्यपि वे काव्य, दर्शन या कल्पना को प्रश्रय दे देते हैं। सांसारिक संघर्षों में उतराते, बहते और किनारे लगते हैं। सफ़लता या विफलता के घूँट पीते हैं। उनके अन्य पात्रों में एक बात और दिखाई देती है, वह यह कि उनके चरित्र में जो मूल भाव रहता है वह तो रहता ही है किंतु उसी की भित्ति पर वे एक क्रम, एक विकास की सृष्टि भी करते जाते हैं जिसका अवसान आदर्श में, भावुकता में, एक उच्चता, मिलन या प्रेम में होता है। प्रायः वे देश-प्रेमी भी होते हैं।

प्रसाद में महाकवि कालिदास का चरित्र उस महाकवि की काव्य महत्ता एवं गौरव से रहित हो गया है। वह एक साधारण कवि ही है। काव्य गौरव नहीं किंतु सहायता के कारण वह कारमीर का शासक बना दिया जाता है। उसके द्वारा एक मनुष्य, एक प्रेमी, एक शासक का ही चित्र सामने आता है। उस कवि को तो जैसे हम पढ़िचान ही नहीं पाते हैं। उसका चरित्र मनोनुकूल हमें नहीं दिखता। कुछ विकृत सा हो गया है। इसका कारण यह हो सकता है। कवि की महत्ता का ज्ञान हमें उसके जीवन में कम ही होता है। जीवन में वह प्रायः उपेक्षित ही रहता है। उसे उसके महत् रूप में तो हम युगों के पश्चात् ही पढ़ि-

धान पाते हैं। अपने युग में तो वह भी एक साधारण ही व्यक्ति रहता है, जिसका व्यक्तित्व संसार के ऊहापोह में प्रायः दबा ही रह जाता है। इसलिये महाकवि का जो चित्र प्रसाद जी ने हमारे समक्ष रखा है वह कवि कालिदास का नहीं एक व्यक्ति कालिदास का है जिसे अपने जीवन के इस भाग में महत्व और ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी। शायद इसीलिये उन्होंने कालिदास के स्थान पर मातृगुप्त नाम ही लिखा है। एक बात और समझ पड़ती है कि जिस समय की नाटक की कथा वस्तु है उस समय भारत की अवस्था अत्यंत भयंकर और युद्धावृत्त थी, अतएव कालिदास की अपेक्षा मातृगुप्त एक सैनिक, एक शामरु की ही अधिक आवश्यकता थी। मातृगुप्त के जीवन का समय भी प्रसाद की दृष्टि से इस समय नव-यौवन काल रहा होगा क्योंकि प्रारंभ से ही वह एक प्रेमी के रूप में सामने आता है। प्रेमिका को न पाने के कारण हतोत्साह है। उसे स्कंदगुप्त का आश्रय मिल जाता है। वह युद्ध में प्रवृत्त हो जाता है। उसका मानवादार्श चरित्र वहाँ देखने को मिलता है जब वह अपनी प्रेमिका वेश्या मालिनी के धनापहरण के संबंध में न्याय करता है। काश्मीर का शासक होकर वह वैभव-विलास अथवा घमंड से नहीं फूल जाता किंतु अपने को सँभाले रहता है। दृढ़ निश्चयपूर्वक देश-सेवा में संलग्न रहता है। कुभा युद्ध के बाद कारनीर का शासक रहना यद्यपि उसे अच्छा नहीं लगता किंतु देश की अव्यवस्था में वह और करता ही क्या? इसलिये शासक होना ही उसने उचित समझा।

शर्वनाग के भी दो चित्र हमारे सामने आते हैं। एक तो वह अहाँ वह साधारण सेना-नायक, निबुद्धि-सा है और रामा-उसकी स्त्री-की भर्त्सना का पात्र होता। भटार्क और प्रपंचबुद्धि के प्रलोभन दिलाने पर महादेवी देवकी के वध करने को तत्पर हो जाता है। शायद यह सोचकर कि उसकी स्त्री के कथनानुसार अब वह 'अपदार्थ' से

महत्त्वपूर्ण वृत्ति होना चाहता है। मदिरा ने उसके मस्तिष्क पर ताले ठोक दिये थे। स्कंदगुप्त के यथा समय बंदीगृह में पहुँच जाने पर वह श्रकांड तांडव नहीं कर पाता जिसके लिये नियुक्त किया गया था। बाद में उसके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। परतंत्रता और तुच्छ पद के कारण उसके मस्तिष्क का जो विकास रुका पड़ा था वह स्कंदगुप्त या अंतर्वेद के विषय पति बना दिये जाने पर फूट पड़ा। यहाँ तक कि शर्वनाग की गृद्ध दृष्टि के कारण ही भयार्क और अनंतदेवी के षड्यंत्र सफल नहीं हो पाये। स्वयं भयार्क को भी कहना पड़ा कि “शर्वनागने बड़ी सावधानी से काम लिया।” अब वह सम्राज्य का सच्चा, निस्स्वार्थी सेवक हो गया था। अंत में जो उसकी वरामा की करुण दशा का चित्रण किया गया है वह हूणों के अत्याचारों एवं भारत की भयंकर दुर्दशा को प्रकट करने के लिये है। इन को ही प्रसाद ने इसका पात्र क्यों बनाया; इसका यही कारण समझ पड़ता है कि उन्होंने नाटक की लंबी पात्र-सूची में और अधिक पात्र बढ़ाना उचित नहीं समझा और इसीलिये अंतर्वेद के विषय पति की भी भयंकर दुर्दशा करा डाली। इससे यह भी प्रकट होता है कि दशा कितनी भयावह, करुणाजनक, व्यापक और बड़ी हुई थी।

‘अज्ञात शत्रु’ नाटक में प्रमुख होना तो अज्ञातशत्रु का चरित्र चाहिये था किंतु विशेष रूप से उस पर प्रकाश नहीं डाला गया है। अज्ञात-शत्रु में स्वभावजन्य क्रूरता नहीं थी। उसकी क्रूरता शिक्षाजन्य, उस युग की दैन है। इस प्रकार की क्रूरता उस युग की एक साधारण बात थी। उस पर माता की शिक्षा का अधिक प्रभाव लक्षित होता है। वह माता के अति निकट रहने एवं दबंग और महत्वाभिजापिणी अनंत देवी सदृश माता के लालन-पालन के कारण प्रकट होता है। नाटक के प्रारम्भिक भाग में प्रसादजी का उसके चरित्र-चित्रण में यही उद्देश्य

मालूम पड़ता है। दूसरे स्थल पर जहाँ वह काशी की प्रजा के संबंध में करने विचार प्रकट करना है वे इसी उक्त शिक्षा-प्रभाव और चरित्र-गठन के फल स्वरूप ही हैं जिनमें उसी तरहणाई के विवेक के साथ राजसिक, तामसिक क्रोध, मनोविकार, भावना का चित्रण हुआ है। वहाँ उसका क्रोध वैसा ही है। वैसा ही ऊपरी ज्ञात होता है जैसा कि प्रायः राजागण दिवाया करते हैं या उनसे प्रकट हो जाया करता है। प्रथम युद्ध के पश्चात् प्रसेनजित् के संबंध में उसके विचार अस्वाभाविकता को प्रथम देते हुए ज्ञात होते हैं। अन्य दो स्थलों पर उसके भावों की कोमलता, मानविकता देखने को मिलती है। प्रसाद से उसके व बाजिरा के प्रेम संबंधी घटना का विवरण छूटना मुश्किल था। उनके सरस हृदय ने तरुणोचित, साधारण किंतु अनवरत बढ़नेवाली सरस हार्दिक भावना का चित्रण भी इसी प्रसंग पर कर दिया है। अंतिम प्रसंग अज्ञातशत्रु के गांभीर्य, उत्तरदायित्व और सुधार का नियोजक है।

विरुद्धक पितृ-विरोधी राजकुमार है उसके चरित्र में जो विरोध, साहसिकता, नृशंसता दिखाई देती है वह प्रसेनजित् के उसके प्रति किये गये व्यवहार की प्रतिक्रिया के रूप में लक्षित होती है। प्रसेनजित् के हृदय में एक लंबे समय की, उसके दासी-पुत्र होने की गाँठ थी जिसे उसका मस्तिष्क खोलने के लिये तैयार नहीं था। पहिले ही जहाँ प्रसेनजित् और विरुद्धक का संभाषण होता है वहीं यह प्रकट हो जाती है। विरुद्धक की साधारण सी साधारण माँग पर वह क्रोधित हो जाता है। विरुद्धक का व्यवहार इस स्थलपर विवेक की सीमा का उल्लंघन करता हुआ नहीं ज्ञात होता। प्रसेनजित् का बिना पर्याप्त कारण के देश निर्वासन का दण्ड देना अविवेक तथा पिता और राजा के अयोग्य व्यवहार का सूचक है इसी की प्रतिक्रिया हम विरुद्धक में पाते हैं। उसके भावों की क्रूरता भी हमें दया के परे नहीं दिखाई देती है। वह तो एक त्याग्य

उपेक्षित, धन-प्रभुता-अधिकार हीन राजकुमार था। वह सोचना था “हम आज एक तिरस्कृत युवक मात्र हैं, कहाँ का कोशल और कहाँ का राजकुमार।” इस निराशा की अवस्था में उसकी माता की इस उत्तेजना ने “बालक ! मानव अपनी इच्छाशक्ति से और पौरुष से ही कुछ होता है। जन्म सिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्व भर में छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी क्यों अवहेलना करते हो ? महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिये काल-स्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी।” उसे पागल बना दिया था। तरुण रक्त जिसमें उबाल, प्राण देने का भाव, आकाश को स्पर्श करने, पर्वतों से कूदने, अग्नि में स्वाहा देने की भावनाएँ उतराया करती हैं वह क्या करता ? वह डाकू बन जाता है। विरुद्ध की ध्येय-पूर्णता श्यामा के संबंध से प्रकट होती है। श्यामा उसे हृदय से चाहती है, उसका पूर्ण विश्वास करती और उसके लिये सर्वस्व देने तक को प्रस्तुत रहती है। वह श्यामा जिसने उसे वध किये जाने से बचाया उसी का गला घोट कर न केवल धन की प्राप्ति के लिये बल्कि ध्येय पूर्ति के लिये चला जाता है। इतना कठोर ध्रुव ध्येय को धारण करने के लिये वह हो गया था। यहाँ केवल वह कठोर प्रकृति ही नहीं हो जाता किंतु प्रेम और मानविकता से गिर गया है। उसकी यह क्रूरता नृशंस हथ्याएँ करते उसमें प्रवेश कर गई होगी। अबला, अपनी प्रेमिका के प्रति उसका व्यवहार उसके चरित्र की नीचता प्रकट करना है। आगे वही विरुद्धक मल्लिका के प्रति कोमल भावोंवाला हो जाता है। प्रसाद जब किसी तरुण का चित्रण करते हैं तब तरुणाई जनित भाव, उमंगें, रस, सृष्टि सृजन-प्रेरणा की उद्भावना करनेवाली नारी की ओर के आकर्षण

को चित्रित किये बिना उनसे रहा नहीं जाता। उनके पात्रों का एक संट तैयार हो जाता है। उनके नारी और मनुष्य तथा उनके विभिन्न टाइपों के आदर्श, सिद्धांत, अनुभव, व्यक्तियों के अनुसार प्रायः ढले हुए होते हैं। उनमें विभिन्नता की अपेक्षा समानता अधिक रहती है। जहाँ प्रसाद ने तरुण एवं तरुणी को लिया वहाँ उनका नारी-हृदय, यौवनो-ल्लास, भावुकता, सरसता से परिपूर्ण हृदय इस अवस्था के भावों को व्यक्त या चित्रित करने में नहीं चूका है। न केवल उनके नाटकों में समस्त साहित्य में, यह व्यापक रूप में पाई जाती है। अज्ञातशत्रु-बाजिरा, चद्रगुप्त-कल्याणी, स्कंदगुप्त-देवसेना, विजया आदि के इस प्रकार के जोड़े तैयार हो जाते हैं। विरुद्धक और मल्लिका के संबंध में भी विरुद्धक की दृष्टि से इसी प्रकार का प्रेम प्रकट होता है जिसका प्रदर्शन सर्वथा अनावश्यक था।

उद्यम का अज्ञातशत्रु नाटक में उतना ही प्रयोग हुआ है जितना पद्मावती के लिये आवश्यक था। प्रसेनजित एक क्रोधी, अविवेकी, कुटिल नीति-अवलंबी और अंत में मल्लिका के प्रति भावुकता का परिचय देनेवाला नृपति है। कुयोजना द्वारा अपने विश्वासी, सहायक सेनापति का वध करवाना उसके चरित्र की कुटिलता का परिचायक है, न कि राजनीतिक कौशल का।

'विशाख' में विशाख नायक और नरदेव प्रतिनायक है। विशाख में सद्यः शिक्षा प्राप्त एक युवक का चित्र है जिसने विशालय का जुआ उतार कर अभी ही निरुद्देश जीवन के पथ-द्वार में प्रवेश किया है। उसके चरित्र की इस अव्यवस्था का चित्र प्रारंभ से ही नाटक-लेखक, ने खींच दिया है। वह चन्द्रलेखा व उसके पिता सुश्रवा नाग की सहायता के लिये निकल जाता है। इसलिये नहीं कि वह अपने जीवन का उद्देश्य

ही सेवा या सहायता लेकर निकला है वरन इसलिये कि चन्द्रलेखा पर मुग्ध होकर ही वह 'इस पचड़े' में फँसा है। उसका चरित्र साधारण युवक का चरित्र ही है जो यथार्थता का पोषक है। उसमें युवकोचित प्रेम और उत्साह है। युवकों में प्राप्त प्रेम के लिये क्रोध में वध कर डालने का मनोविकार है, स्वार्थ के लिये चन्द्रलेखा के लिये विरोध करने की, लड़कर प्राणोत्सर्ग करने की क्षमता है। उसमें नवयुवक मस्तिष्क होने के कारण शत्रु को क्षमा कर देने की उदारता भी नहीं है जैसा नरदेव के प्रति उसके भाव से प्रकट होता है। नरदेव प्रजा को अपनी धरोहर समझनेवाला नृपति है। जो न्याय का प्रदर्शन केवल दूसरों के लिये करता है। उसमें साहस एवं दृढ़ता का अभाव है। रानी की मृत्यु और महापिंगल के वध के कारण एवं अपने कार्यों का कुफल भोगने के पश्चात् ही उसमें न्याय-बुद्धि जाग्रत होती है।

जनमेजय और तक्षक 'जनमेजय' नाटक के नायक और प्रतिनायक हैं जिनमें क्रमशः उस काल के आर्य एवं अनार्य राजाओं, उन ठे भावों एवं प्रवृत्तियों तथा संघर्षों का चित्रण है। जनमेजय का ध्येय भारत में शांति स्थापित करने एवं आर्य सभ्यता और संस्कृति की उन्नति के मार्गों को उन्मुक्त करने का है। आज के समान उस समय भी सीमा प्रांतीय बर्बर जातियों धन-स्त्री आदि का हरण करती रही होंगी। अतएव जनमेजय प्रथम तक्षशिला-विजयी के रूप में हमारे समक्ष आता है। किंतु उसे काश्यप तथा कतिपय उसके अनुयायी स्वार्थी ब्राह्मणों के विरोध का सामना करना पड़ता है। वह मणिमाला से विवाह कर आर्य-अनार्य संस्कृतियों की एकता की नींव डालता है जो उस समय की शांति और आर्यों के सुख से जीवन-यापन करने के लिये आवश्यक हो उठी थी।

प्रसादजी ने तत्काल से अनार्य राजा का चित्रण भी बड़ा ही सुन्दर किया है। वे आर्य संस्कृति के गौरव का अनुभव करते हुए भी संस्कृतियों के सम्मिलन को आवश्यक समझते थे। तत्काल में अपनी जाति की रक्षा करने का भाव पूर्णरूप से विद्यमान है। जनमेजय उसका शत्रु है इसलिये उससे शत्रुता करना उसका कर्तव्य है। उस समय जब अनार्य जातियों का नाश हो रहा था। श्रीकृष्ण अर्जुन द्वारा खांडव वन को भस्म करवा उनका नाश करवा चुके थे। अतएव उसके समक्ष केवल शत्रुता करने ही का लक्ष्य नहीं था किंतु जाति-रक्षा का भी। उसके चरित्र की निष्कलुपता और भोलापन तब प्रकट होता है जब काश्यप उससे सम्राज्ञी वपुष्टमा के हरण की कुटिल नीति का अवलंबन करने के लिये कहता है और वह इसका कारण पूछता है। वह पाप को पाप समझता और कहता है। पाप पर पुण्य का आवरण नहीं चढ़ाना चाहता। अनार्य स्वभाविकता का चित्रण सोये हुए उत्कंठ पर, नारी सरमा पर छुरे से आक्रमण के समय प्रकट होता है।

नारी-चित्रण की आलोचना वास्तव में सर्वानुभूतिमयी नारी के द्वारा ही होना आवश्यक है क्योंकि उसके मनोभावों को, उन मनोभावों के उदय, विकास और विलीन के इतिहास को, क्रम को, नारी-चित्रण क्रियाओं को नारी ही स्वाभावतः हृदयंगम, विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण कर सकती है। भावुकतामयी नारी का चित्रण पुरुष ने अपने मनोनुकूल नहीं तो जैसा उसने उसे समझा है, उस पर उसका प्रभाव पड़ा है, उसने उसका अनुभव किया है, उसी के अनुरूप किया है। वह करता रहता है। प्रसादजी की भी नारी के संबंध की कतिपय विशिष्ट धारणाएँ थीं। उनके आधार पर एवं अब तक समझे हुए नारी के रूप पर ही उन्होंने उसका चित्रण किया है। वास्तव

में नारी के संबंध में उन्होंने कल्पना एवं भावुकता का ही आवश्यकता-नुसार उपयोग किया है।

प्रसाद ने नारी के दोनों रूपों का चित्रण किया है। एक तो वह जहाँ वह महिमामयी, त्यागशीला, आरम-समर्पण और उत्सर्ग-कत्री दयामयी, उदार-चित्त, भावना और कल्पनामयी, नम्र, विनयी, कल्याणी, अपने बंधनों से जकड़ी, उन्हीं में सुखी तथा संतुष्ट, पुरुषाभिमान एवं अनाचार की, शक्ति की शिकार, वात्सल्यमयी, अभाव और लघुनामयी, प्रेमिका, प्रेम और परिणयमयी है। दूसरा वह जहाँ वह उग्र, पड्यंत्र कारिणी, पुरुषोचित अहमन्यता को प्राप्त, चंडिके, भवानी, खड्ग-हस्त-धारिणी, संहारकारिणी, विलासिनी, विलास की सामग्री और इस सामग्री को प्रस्तुत करनेवाली महत्वाभिलाषिणी, नारीगत कुटिलता, छल और प्रवचना को लिये हुए, नारी-कौशल की अधिकारिणी, स्वाधिकारों से सचेत और उनकी चेष्टा में रत, रूप-सौन्दर्य और आकर्षण से परिचित और उसका उपयोग करनेवाली, यौवन को विलास का और शारीरिक सौन्दर्य को आकर्षण का साधन समझनेवाली; प्रेम की प्रतिक्रिया के लिये उन्नत और विवेकाविवेक को तिलांजलि दे निर्वृद्ध और नियंत्रण रहित हो जानेवाली है।

उसके एक तीसरे रूप की उद्भावना प्रसादजी ने और की है जहाँ वह दो संस्कृतियों के एकीकरण के लिये अपनी भेंट उदार-चित्त होकर चढ़ा देती है; जहाँ उसमें स्वदेश-गौरव, स्वदेश कल्याण, स्वाधीनता की प्रेरणा और उसकी रक्षा का विधान हमें दिखाई देता है एवं जहाँ वह पति-पुत्र को भी स्वदेश के लिये तुच्छ समझती और इनकी भर्त्सना करती है। मध्यवर्ग की नारी का तो प्रसाद में यह एक साधारण स्वभाव है।

दोनों स्नेहमयी माताएँ और आदर्श पत्निएँ हैं किंतु देवकी का चित्रण बहुत कम हुआ है। वह राग-द्वेष रहित एक क्षमाशील नारी है। सहनशीलता और क्षमा उसमें उच्च कोटि की देवकी और वासवी पाई जाती हैं। अपने वध करनेवालों को भी क्षमा करवा देना उसके चरित्र की विशालता प्रकट करता है। ईश्वर की कृपा में उसे अटल विश्वास है और इसीलिये कष्टों का सामना करती हुई, सौत के अनाचार को सहती हुई वह किसी तरह संतोष और धैर्यपूर्वक अपना जीवन काट लेती है। वास्तव्य की मात्रा उसमें इतनी अधिक है कि स्कंदगुप्त का समाचार न पाकर और युद्धक्षेत्र की परिस्थिति से उसका मरण समझ कर बह जीवित न रह सकी। आदर्श पत्नी वह अवश्य रही किंतु उसका विशेष चित्रण नहीं हुआ है। वासवी का चित्रण एवं व्यापार अधिक है। बिंबसार के समान ही वासवी के महत्त्व का भी चित्रण है। बिंबसार में जहाँ कोरी दार्शनिकता ही है वहाँ वासवी में सब तरह से विचार करने की क्षमता पाई जावी है। वह अपने पति की सच्ची सहगामिनी रही। उसने अपने पत्नीत्व के कर्तव्य का उत्तमता और पूर्णता से पालन किया। पति की इच्छा उसकी इच्छा, उनका सुख-दुःख उसका सुख-दुःख रहा है। उसने आपत्ति और निराशा में पति को सात्त्वना दी, साहस दिलाया। अभावों में अभावों को लक्षित न होने दिया। बिंबसार को दान देने में जब असुविधा का अनुभव हुआ तब उसी ने यह सुझाया कि काशी उसका स्त्री-धन है अतएव उसका राजस्व तो उन्हें ही मिलना चाहिए। यह भी अजातशत्रु अथवा छलना से किसी घुरे भाव के कारण नहीं, केवल पति-देवता को संतुष्ट और प्रसन्न करने के लिये। उसमें बिंबसार की दार्शनिकता तो नहीं है किंतु उसका व्यावहारिक रूप अवश्य है। दार्शनिकता उसका मूल स्वभाव नहीं। वह तो बिंबसार में आत्मसाद कर देने के कारण

उसमें रंगी हुई ज्ञात होती है। इसलिये उसकी दार्शनिकता सृष्टि के वास्तविक रूप का ही विवेचन करती है जिसका वाह्य रूप भी हृदयंगम किया जा सकता है। पति जब दर्शन का विषय छेड़ देता है तब उसे प्रसन्न करने के लिये पति-परायणा भारतीय नारी का यह कर्तव्य हो जाता है, कि वह उसमें रम आवे। पति जब अकारण ही आन्तरिक प्रेरणावश पृष्ठ बैठना है, “रात में ताराओं का प्रभाव विशेष रहने से चंद्र नहीं दिखाई देता और चंद्रमा के तेज बढ़ने से सब तारे फीके पड़ जाते हैं, क्या इसी को शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष कहते हैं? देवि ! कभी तुमने इस पर विचार किया है?” तब इसका उत्तर देना उसे अनिवार्य हो उठता है।

“आर्यपुत्र ! मुझे तो विश्वास है कि नीला परदा इसका रहस्य छिपाये है, जितना चाहता है उतना ही प्रकट करता है। कभी निशाकर को छाती पर लेकर खेला करता है, कभी तारों को बिखेरता और कृष्णा कुहू के साथ क्रीड़ा करता है।” पुनः बिबसार प्रश्न करता है, “और कोमल पत्तियों को, जो अपनी डाली में निरीह लटका करती हैं, प्रभंजन क्यों फिफोड़ता है?” वासवी को पुनः समाधान करना पड़ता है; “उसकी गति है, वह किसी को कहता नहीं है कि तुम मेरे मार्ग में अड़ो; जो साहस करता है, उसे हिलना पड़ता है। नाथ ! समय भी इसी तरह चला जा रहा है, उसके लिये पहाड़ और पत्ती बराबर हैं।” उसके चरित्र की निष्कलुषता और द्वेष-हीन वास्तव्य इस घटना से प्रकट होता है जब वह स्वयं अज्ञातशत्रु बंदी हो गया तो उसे छुड़ाने जाती है एवं अंत में अज्ञातशत्रु के पुत्र हो जाने पर भावुकता से भरे उद्गार प्रकट करती है।

अनंतदेवी और छलना कार्य-व्यापार की विभिन्नता होते हुए भी एक ही श्रेणी की स्त्रियें हैं। दोनों मदनोन्मत्त, महत्वाभिजायिणी राजमाताएँ

हैं । सापत्न्य-विद्वेष एवं अपने पुत्रों के प्रति अतीव अनंतदेवी और छलना ममता उनमें कूट-कूट कर भरी है । किंतु अनंत-देवी में जहाँ चारित्र्य की निष्कलंकता का अभाव है एवं विलास और अभिमान की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है वहाँ छलना में केवल सापत्न्य-विद्वेष और निज पुत्र-ममता का ही आधिक्य है । अनंतदेवी षड्यंत्रकारिणी, उग्र स्वभावा, उन्मत्त नारी है । छलना भोली और देवदत्त के प्रभाव से प्रभावित ही विदित होती है । छलना में जो उग्रता पति एवं वासवी के प्रति है वह मूल स्वभावगत अथवा विद्वेष-भावना से प्रेरित नहीं मालूम पड़ती । वासवी से जब वह स्वयं काशी पर अधिकार प्राप्त करने का संदेश कहती है और वासवी व्यंग्यपूर्वक उससे किसी अनुचर को भेजने को कहती और ताना देती है कि “तब राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी” तब छलना का यह कथन; “किंतु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश अच्छी तरह से नहीं कहता । तुम्हारे मुख की प्रत्येक सिकुड़नों पर इस प्रकार लक्ष्य नहीं रखता” तो इन शब्दों में केवल विद्वेष की पराकाष्ठा है । चारित्र्य की मूल प्रवृत्ति अथवा नीचता नहीं । आगे अज्ञातशत्रु के बन्दी होने पर उसका यह कथन कि “मीठे मुँह की डाइन ! अब नेरी बातों से मैं ठण्डी न होने की ! ओह, इतना साहस, इतनी कूट चातुरी ! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूँगी” आदि तो उसमें क्रोध की मात्रा ही समझना उचित है, जैसा कि उसके अंत के व्यवहार से प्रकट होता है । उसे अपनी भूल मालूम हो गई । बाहर से उसका हृदय जो कलुषित हो गया था वह मिट गया ।

किंतु अनन्त देवी के चरित्र की गणना कलुष हृदय, षड्यंत्र कारिणी, नीच-प्रवृत्ति नारियों में ही की जायगी । छलना के हृदय में पति द्वेष नहीं था, उसके प्रति अनादर का या कोई अन्य बुरा भाव

नहीं था। उसमें था तो केवल अपने पुत्र अज्ञात के लिये अनीव मोह-समता। छलना की समता कैकेई के चरित्र से की जा सकती है किंतु अनंत देवी का पापपूर्ण व्यवहार किसी भी प्रकार पाप रहित नहीं कहा जा सकता। जो नारी पति को लक्ष्य कर यह गर्वोक्ति कर सकती है कि “मैं वही हूँ—जो अश्वमेध पराक्रम कुमारगुप्त से बालों को सुगंधित करने के लिये गन्ध चूर्ण जलवाती थी। जिसके एक तीखे कोर से गुप्त साम्राज्य डाँवा-डोल हो रहा है।” तब उससे पति के प्रति किसी भी साधारण अच्छे व्यवहार की आशा करना व्यर्थ है। इसमें उसकी विलासिता, निर्द्वंद्विता, नियंत्रण-हीनता, अनुचित संबंध आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। उसके इसी चरित्र का समस्त नाटक में विकीर्ण होना दिखाया गया है। प्रारंभ में ही वह हमारे समक्ष पति-घातक षड्यंत्र में लिस दिखाई देती है। बाद में सपत्नी, देवी सदृश देवकी को भी मौत के घाट उतार देने का आयोजन करती है। कुटिल कार्यों के करने की उसमें अपूर्व क्षमता पाई जाती है। उक्त कुतूह्यों के लिये वह सेनापति भटार्क को—शायद युवक भटार्क को—वासना पूर्ति और पद के प्रजोभन-जाल में फँसा अपना सहायक बना लेती है। भटार्क के अस्थिर और निर्बल चरित्र का वह समुचित लाभ उठाती है। षड्यंत्रों में वह असफल होती है साम्राज्य और स्वदेश-सेवा के भाव को भी तिलांजलि दे, स्कंद के क्षमा भाव की कृतज्ञता को भुला कर भी, विदेशियों की सहायता कर पापपूर्ण चरित्र का परिचय देती है।

अनंतदेवी और छलना के साथ ही हम मनसा पर भी विचार कर सकते हैं। मनसा भी टम्र स्वभावा रमणी थी जिसमें जातीयता का इतना

जोश, स्वाभिमान था कि वह बिना विवेकाविवेक, के परि-
मनसा स्थितियों का विचार न कर, बिना बलाबल को तोले विचारों

की निम्नस्थिति में घटनाओं को देखकर नाग जाति को इतना उत्तेजित कर देती है कि उसके प्रायः सर्वनाश का कारण बनती है।

प्रारम्भ में यह अनुभव नहीं कर पाती कि उसके समय में वह समय आ गया था जब कि नाग जाति और आर्य जाति का एक होना अनिवार्य था। इसका ज्ञान उसे नाग जाति के प्रायः सर्वनाश पर होता है। वे दो जातिएँ अब दो नहीं रह सकती थीं।

मनसा के विरुद्ध सरमा, कार्नेलिया और मणिमाला के चरित्र आते हैं जिन्होंने परंपरागत राष्ट्रीय विद्वेषों की अग्नि स्वयं को संस्कृतियों के सम्मिलन के हेतु त्याग कर सदा के लिये शांत कर दी। दोनों जातियों को मिलाने के लिये उनके त्याग प्रशंसनीय हैं। सरमा (आर्य-यादवी) ने वासुकि नाग से परिणय कर स्वजाति अपमान सहा। अपमान सहकर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग गई। नाग जाति का आर्यों के विरोध को देखकर उसे दुख होता। उसमें क्षुब्धता पैदा होती किंतु इस गरल को वह पीती रही। जब न पी सकी तो दोनों ओर से विलग हो दोनों जातियों के कल्याण में तटस्थ रहकर निरत हो गई। इसी प्रकार मणिमाला में यौवन-सुलभ प्रेम जनमेजय के लिये जाग्रत हुआ जो आगे जाकर विवाह सूत्र द्वारा नाग और आर्य जातियों की खाइयों को पुराने और उन्हें एकता का पाठ पढ़ाने के काम आया।

देवसेना, मालविका और कोमा उन उच्च आत्म-त्यागिनी युवतियों में से हैं जो प्रेम के लिये महान् से महान् उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहती हैं। अपने प्रेमी का सुख-दुख, कल्याण, अपना आत्म-त्यागिनी सुख-दुःख, कल्याण समझती हैं। निस्वार्थ प्रेम तर्पणें जिनमें इस उच्च कोटि का है कि उसकी समता नहीं की जा सकती। ये चरित्र आदर्श हैं जो यथार्थता से दूर नहीं। शकराज के लिये कोमा की त्यागपूर्ण भावना और जलन अनुकरणीय है।

मालविका का प्रेम के लिये, जानते-वृक्षते हुए, आत्म-बलिदान, उस प्रेम के लिये जिसका एक कण भी उसे देखने को नहीं मिला था, जो भविष्य में भी प्राप्त होना असंभव था, अनुपम है। उसमें वह प्रेम था जो प्रतिदान नहीं चाहता था। केवल जलन, साधना, त्याग और उत्सर्ग ही जिसके शृंगार थे। इन्हीं के समान देवसेना का त्याग भी अनुपम, आदर्श और उच्च है। वह न केवल वीर कन्या थी किंतु उसमें उस वीरता का संचरण भी था जो कि क्षत्रियत्व का, वीरत्व का गौरव होती है। उसकी मूल प्रवृत्ति गायन की ओर थी किंतु आवश्यकता पड़ने पर युद्ध क्षेत्र में जाने के लिये भी प्रस्तुत हो जाती है। भीषण परिस्थितियों में भी वह घबड़ाती नहीं, विचलित नहीं होती, साहस पूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती जाती है। यह अवश्य है कि प्रमाद जी ने गायन विद्या का उसमें इतना अधिक प्रेम प्रकट किया है कि वह मौके बेमौके भी गाया करती है जो कतिपय नव सिखुए गायन सीखने वालों में पाया जाता है। किंतु इन सबसे परे उसकी महत्ता और त्यागशीलता तो आगे प्रकट होती है। वह जानती है कि विजया भी उसके प्रेमी स्कंद को चाहती है किंतु उसमें ईर्ष्या का एक भी कण नहीं। आभास भी नहीं। वह जानती है कि स्कंद के कोने में विजया ने भी अपना स्थान बना लिया है किंतु उसे इसका रंज नहीं दुःख नहीं। वह तो सम और एक भाव से अपने इष्ट देवता की आराधना करती रहती है। ये बातें जैसे उसके समक्ष तुच्छ हैं। उनका कोई मूल्य नहीं। उसका प्रेम अटल, उसकी इच्छाएँ वासना रहित, उसके कार्य त्याग पूर्ण, उसकी प्रेम प्रणाली सहृदयता, उत्सर्ग पूर्ण। उसका आत्मोत्सर्ग आदर्श है। त्याग का तो उसने उच्चतम आदर्श उपस्थित किया है। विजया उसे ईर्ष्यावश मरवाने का प्रयत्न करती है किंतु विजया के प्रति भी उसमें

सद्भाव बनो रहता है। उसके इस चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। वह क्षमाशील भी है। इन्द्रियों पर उसका पूरा-पूरा अधिकार है। उसका चरित्र पवित्र और आत्मिक सौंदर्य का ज्वलंत उदाहरण है। स्कंदगुप्त तो एक बार उसे देखकर विचलित हो उठता है किंतु उसमें वासना का लेश नहीं। वह विचलित नहीं होती, साहस और धैर्य पूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती ही जाती है। प्रेम के लिये स्कंदगुप्त को वह पथ से विपथ नहीं करना चाहती। स्कंदगुप्त का कुभा के रण के बाद जब पता न लगा और साधारणतः यह प्रचलितसा हो गया कि उसे वीर गति मिल गई होगी तब भी देवसेना अटल श्रद्धा और अनुराग से पर्यंदत के संरक्षण में देवकी की समाधि के निकट अपने आराध्य की पूजा में लग गई। वैधव्य जीवन के समान अपना जीवन क्षण-क्षण गीत गा-गा कर, युद्धों के मध्य में उनकी कलुषित पापपूर्ण वाक्यावलियाँ को सुन-सुन कर गलाने लगी। अंत में उसका उत्सर्ग, आत्म त्याग चरम सीमा तक पहुँच जाता है। स्कंदगुप्त पर्यंदत की कुटीर के निवट भूला भटका आ जाता है। पुनः देवसेना से भेंट हो जाती है। विजया भी उसे प्रलोभन दे चुकती है। स्कंद देवसेना के साथ एकाकी जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा प्रकट करता है। किंतु धन्य देवसेना जिसने सच्चे आत्म-प्रेम के लिये, राष्ट्र के लिये अपनी आत्मा को दबाकर स्कंद को विवाह के बंधनों में बाँधना उचित नहीं समझा। प्रेम को वह आग की तरह दबाये थी। उसके शांत होने का सुअवसर उसे मिल रहा था। किंतु उसके त्याग ने आत्मोत्सर्ग ने स्पष्ट स्कंदगुप्त से कह दिया “आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना न लिये। सम्राट क्षमा हो। इस हृदय में……आह ! कहना ही पड़ी, स्कंदगुप्त को छोड़ कर न तो कोई आया, और न वह आयागा, अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर, मुझे उसी की उपासना करने दीजिये; उसे कामना के

भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले में कुछ लिस नहीं चाहती।”

कमला और रामा स्वदेशानुरागिणी और स्वामिभक्त नारियें हैं। कमला सेनापति भटार्क की माता है और उसे उसकी स्वदेश विरोधी कुकृतियों से दुःख होता है। भटार्क को वह स्वदेश स्वदेशानुरागिणी के लिये उत्तेजित करती है। उसकी साम्राज्य नारियें विरोधी, स्वामि-भक्ति हीन प्रवृत्ति के लिये उसे लांछना देती है। उसका कुछ प्रभाव भी पड़ता है किंतु भटार्क की नीच प्रवृत्ति फिर उसे अपनी ओर ही खींच ले जाती है। रामा का व्यवहार उसके पति के प्रति प्रारम्भ में खटकनेवाला है और उसका पति पर आधिपत्य एवं उसे तुच्छ समझ कर कलह-प्रिय होना सिद्ध करता है किंतु उसकी स्वामि-भक्ति अवश्य प्रशंसनीय है। प्रसाद के प्रायः सब सद्पात्र स्वदेश-सेवा की ओर ही अग्रसर होते दिखाई देते हैं। रामा भी स्वामि-भक्ति के कारण देवकी की सेवा प्राणों की बलि देकर भी करना चाहती है। उसके पति पर उसकी कृति के कारण उसे दुःख है और वह जाकर देवकी को सूचना दे देती है कि षड्यंत्र में लिस उसका पति उनका वध करना चाहता है सद्वृत्ति परायण पति पर उसका पर्याप्त प्रभाव है और देवकी-वधोद्यत घटना के पश्चात् वह उसे सन्मार्ग पर ले आने में पूर्ण सफल होती है। अन्त में उसे नाटक-लेखक ने पुत्र-शोकाकुल भी दिखा दिया है।

जयमाला में यद्यपि स्वदेश-भक्ति, महान् त्याग के प्रति सद्भावना, एक साधारण नारी के समान पद सम्मान और राज्य का लोभ है किंतु उसके इसी चरित्र में व्यावहारिकता का परिचय मिलता है। उसकी उक्त भावना स्वार्थ प्रेरित नहीं कही जा सकती। पति के सम्मान पर मान जाना उसकी बुद्धि और पति-परायणता का सूचक है। पति-सेवा में वह

सदा संलग्न रही और उससे दूर रहना उसे रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ । आपत्ति में उसने धैर्य से काम लिया । भीमवर्मा के पराजित होने पर स्वयं युद्ध के लिये उद्यत हो गई ।

प्रसाद के मुख्य पात्रों में चन्द्रलेखा का चरित्र ही पृथक् अवलोकनीय है । उसका चरित्र सौंदर्य-शालिनी उन नारियों का चरित्र है जिन्हें रूप के लिये कष्ट उठाना पड़ता है । राजा या जमींदार जिन्हें अपनाना चाहते हैं और जिनके रूप के लिये खून-खराबी हो जाया करती है । चन्द्रलेखा भी इसी रूप सौंदर्य के कारण राजा नरदेव की आँखों में गड़ गई । इस कारण उस पतिपरायणा का गार्हस्थ्य-जीवन भी एक समय के लिये दुःखमय हो गया ।

प्रसाद के नारी पात्रों में एक भाग वासनामयी, लक्ष्यहीन, निर्बल-चरित्र ऐसी तरुणियों का भी है जो या तो समाज की रुढ़ियों के कारण अथवा अपनी विवशताओं एवं निम्न स्थिति के वासनामयी लक्ष्य-कारण रूप-सौंदर्य के लालच में पुरुष-द्वारा विवाही हीन दुर्बल नारियं गई, उनकी विवशताओं ने उनकी व्यथाओं की सृष्टि की । उनमें तरुणाई की जो उमंगें थीं, जोरस प्रवाहित हो रहा था उनका उनके चरित्र की दृढ़ता के अभाव में (जैसा प्रायः इस अवस्था में रहा ही करता है) लाभ उठाया और फिर मक्खी-की तरह फँकने का प्रयत्न किया गया । उनका प्रेमी हृदय किसी पुरुष पर जिस पर उनकी सहानुभूति हो न्योछावर होने के लिये तैयार हो गया किंतु निधति ने उनके के लिये कुछ अन्य घटनाओं की ही सृष्टि कर दी और वे कहीं जाती हुई वहीं फिका गई और फिर अन्त में उन्हें भग्न मनोरथ हो अपनी पुरानी स्थिति में ही आ जाना पड़ा । उनका सुख क्षणिक, उनका उल्लास प्रवंचना पूर्ण, उनका विज्ञास पुरुषाधीन, उनकी

आकांक्षाएँ पराजित, उनके भाव दबे हुए, उनकी भावनाएँ कुचली हुई रहीं। फूलों के समान खिलीं और पंखुरियों के समान बिखरीं, अलग-हो गईं। उनकी इस वेदना का कारण उनकी दुर्बलताओं से अधिक उनकी निम्न स्थिति रही। विजया सुवापिनी, सरमा, दामिन, मागंधी में हम यही पाते हैं।

कुवेर कन्या विजया के पास धन, रूप, आकर्षण सब ही था। नारी का हृदय और छलना भी थी किंतु धन की महत्ता ने उसे पुरुष-हृदय को, संसार को नहीं देखने दिया। वह स्वार्थपरता, वासना ईर्ष्या से ऊपर न उठ सकी। जिस समय विदेशी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए विजया से एक नम्र आग्रह किया गया उसने लक्ष्मी-पुत्री के मुँह से ही उत्तर दिया। लक्ष्मी के मस्तिष्क ने हो धन का मोह उसमें सृजन कर कहलवाया। उसी बनी हुई कुटिल उक्ति में उसने देश की वीरता को चुनौती देकर कहा, “किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।” इसी भावना ने, वणिक-वृत्ति की प्रवृत्ति ने, उसे नारी के वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होने दिया। इसी प्रवृत्ति ने उसे अपने हित और अहित, शत्रु मित्र में भेद न समझने दिया। उसकी अकारण ईर्ष्या ने अपनी हित-वितक, प्रिय, उसके लिये त्याग करनेवाली सखी देवसेना के प्रति घोर कुट्टय करवाने के लिये उसे प्रेरित किया। उसने अपने स्वार्थी प्रेम के लिये देवसेना को बलि देना भी स्वीकार कर लिया। नारी की ईर्ष्या की यह पराकाष्ठा है। यहीं लेखक उसे समय पर अलग करवाकर नारी संबंधी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का दिग्दर्शन भी करा देता है। विजया में प्रेम के स्थान पर वासना, त्याग के स्थान पर घोर स्वार्थपरता, प्रेम के स्थान पर प्रेम की प्रवृत्ति, हृदय के स्थान पर प्रतिक्रिया है। प्रेमी के हित-चिंतन के स्थान पर उसके प्रति विद्रोह, सफलता प्राप्त न होने पर विरथ-गमन

है। प्रेम की प्रतिक्रियावश वह अपरिचित भटार्क पर मुग्ध हो जाती, उसे बिना पर्याप्त करण के वरण कर लेती है। प्रेम-साधन विफल होने पर कुसुमपुर में पुरगुप्त के विनोद की, क्रीड़ा की सामग्री बनना पसंद कर लेती है। यहाँ भी जब विफलता से टकराती है, भटार्क से बिछली जाती है तब अनन्त देवी पर कुपित हो, सर्पिणी-सी फुफकार कर पुनः धन रत्न के आधार पर त्यागी-वीर स्कंद को, उसके हृदय को, प्रेम को खरीदना चाहती है। प्रेम के मार्ग को गलत समझने के कारण अन्त में उसे निराश होकर आत्म-हत्या तक कर लेना पड़ती है।

सुवासिनी को भी अपनी विवशता, असहायावस्था के कारण चाणक्य से प्रेम होते हुए भी राज्ञस से प्रेम-बन्धन स्थापित करने को बाध्य होना पड़ा। नंद के क्रीड़ा-कौतुक और उसकी वासनापूर्ति में सहायक होना पड़ा। परिस्थितियों ने उसे बौद्ध-भिक्षुणा तक बनने के लिये बाध्य किया किंतु उसके तरुणी हृदय ने उसे वहाँ भी नहीं रहने दिया और अन्त में उतराती-बहती हुई उसे राज्ञस में ही अपने को आत्मसात् करना पड़ा। सुवासिनी के समान ही सौंदर्य और यौवनपूर्ण नारी सुरमा को भी बिछलनों से सामना करना पड़ा। उसकी अतृप्त, अदम्य वासना की अस्थिरता ने उसे खूब ही चक्कर खिलाये। उसका आग्रह था कि शांतिदेव ही उसके वासनामय हृदय पर अधिकार करले। वह एकाकी नारी चाहती थी कि शांतिदेव की हो रहे। किंतु पुरुष, शांतिदेव तो राज्यश्री के सौंदर्य-जाल से निकल ही नहीं पा रहा था। वह सोचता था राज्यश्री मुझे मिल जावे तो सरमा से किनाराकशी कर लूँ। सरमा क्या करती? अपनी वासनाओं को रोकना उसने सीखा नहीं था। वे उसके वश की नहीं थीं। एक अतिथि के समान देवगुप्त इसी समय उसे मिल गया। उसने उसे आकर्षित करना चाहा। अनचाहे वह उसी ओर मुड़ गई। पर जब सुखाधिक्य का आनंद ले रही थी, उसकी स्थिरता पर विचार

कर रही थी वह नष्ट हो गया। राज्यश्री की ओर से निराश शांतिदेव ने पुनः उसका आह्वान किया और ठोकरें खाती हुई वह उसी के अच्छे और बुरे में, हत्या में सहगामिनी हो गई।

दामिनी अदम्य वासना-विकार युक्त वृद्ध पत्नी है। वेद से विद्वान्, कुलपति ने तरुणाई की, यौवन की अजस्र धारा दामिनी को विवाह द्वारा रोकने का उपक्रम किया था। वह फूट-फूट कर निकलना चाहती थी। उनके निर्बल हाथ, ज्ञान-गरिमा और गुरुआनी के पद से रोकना चाहते थे। वह कैसे रुक सकती थी। दामिनी की उपस्था का 'जनमेजय' में उपयोग कर प्रसादजी का उद्देश्य वृद्ध-विवाह की विडंबना दिखाने का है। इन्हीं के सदृश-चरित्र प्रो० दीनानाथ और किरणमयी में मिलने हैं। दामिनी का चरित्र विकार-ग्रस्त होने हुए भी उज्ज्वल है। उसकी फिसलन स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। इसका चरित्र प्रसादजी ने वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम को दिखला कर भी, निष्कलंक रखा है जो कि उनकी कलात्मक बुद्धि की प्रखरता का द्योतक है।

इन्हीं की श्रेणी में मागंधी का चरित्र भी आता है। रूप-सौंदर्य, यौवन के आधार पर इस विकारग्रस्त, वासनापूर्ण, निम्न-स्थितिवाली नारी ने महात्मा गौतम को आकर्षित करना चाहा किंतु इस चेष्टा में विफल होकर अपने उक्त गुणों के कारण ही वह राजरानी बनी और पुनः इस पद से पतित हो वेश्या बनी। विरुद्ध को हृदय और आत्मा सौंप कर भी जब वह उसके द्वारा छली गई तब पुनः निम्न-स्थिति में आकर महात्मा गौतम की ही अनुयायिनी बन गई। मागंधी और इस श्रेणी का सब नारियों के चित्रण का सार मागंधी के इस निम्न कथन में गर्भित है जो परिस्थितियों एवं घटनाओं की भिन्नता के होते हुए भी एकसा ही है। “वाह री नियति ! कैसे-कैसे इश्य देखने में आये—कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का

पात्र तक उठा कर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ !... .. वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई ! अपनी परिस्थिति को संयत न रख कर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, कात्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी, उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये।” ❀



❀ लेखक द्वारा प्रसाद पर लिखित पूर्ण सामग्री के दृष्टि से पृथक प्रकाशित “नारी-हृदय की अभिव्यक्ति” में “ध्रुवस्वामिनी” नामक निबंध पढ़ना आवश्यक है।

हिंदी नाट्य-चिंतन

(प्रथम-भाग)

में

१. नाट्यकला एवं साहित्य की रूपरेखाएँ

तथा

२. भारतेन्दु बाबू, लक्ष्मीनारायण मिश्र एवं सेठ
गोविंददास के नाटकों का पूर्ण विस्तृत
विवेचन है ।

मूल्य १॥=)

